सरलमना मुनिश्री दुलीचंदजी (सादुलपुर) को
जिन्होंने निष्काम भाव से अपना सम्पूर्ण जीवन
आचार्यश्री की व्यक्तिगत सेवा मे
समर्पित कर रखा है।

प्राक्कथन

आचार्य श्री तुलसी वर्तमान के जैनाचार्यो मे सबसे अधिक चर्चित आचार्य हैं। उनके आचार्य-काल को इस समय २५ वर्ष सम्पन्न हो चुके हैं। उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण समय का पूर्वांश मुख्यत तेरापथ की प्रगति मे और पश्चिमाश जन-कल्याण मे लगाया है। साधारणतया ये दोनो कार्य सवलित रूप से चलते रहे हैं।

जनता के पास श्रद्धा की कमी नहीं है। विशेषत भारतीय जनता इस विषय मे गाँठ की पूरी है। पर वह गाँठ सरलता से नही; कठिनता से और हर एक के लिए नही, किसी विशेष के लिए ही खुला करती है। आचार्यश्री के लिए वह खुली है। उन्होंने जनता से असीम श्रद्धा प्राप्त की है। परन्तु प्रकृति के नियमो मे शायद यह वात मान्य नही है कि कोई केवल श्रद्धा ही प्राप्त करे। वर्षा की बूँदें जहाँ गिरती है, वहीं से आंधी उठाने का भी प्रकृति ने कोई विशिष्ट प्रवध कर रखा है। जव जनता की अयाचित श्रद्धा उन पर वरसने लगी तो विरोध और विद्वेष की आंधी का उठना भी स्वाभाविक ही मानना चाहिए। वे श्रद्धा और अश्रद्धा के इस सम्पुट मे रहकर निर्लिप्त भाव से अपना कर्तव्य किये जा रहे हैं। न उन्हें श्रद्धा पर आसक्ति है और न अश्रद्धा पर आक्रोश। श्रद्धा के अमृत और अश्रद्धा के हलाहल को समभाव से पचाते हुए अपना करणीय करते रहने का ही उन्होंने लक्ष्य निर्धारित किया है।

आचार्यश्री के जीवन का अध्ययन करते रहने का सुअवसर मुझे मेरे वाल्य-काल से ही प्राप्त है। मेरा विद्यार्थी-जीवन उनकी देख-रेख मे ही वीता है। यद्यपि मेरे लिए उनका वाल्य-जीवन और अधिकाश मुनि-जीवन केवल श्रवण का ही विषय रहा है, पर उनके मुनि-जीवन के कुछ वर्ष तथा आचार्य-जीवन के ये २५ वर्ष मेरे प्रत्यक्ष के विषय रहे हैं। मेरी आँखो ने इन वर्षो मे उनको काफी निकटता से देखा है, मस्तिष्क ने

यथाशक्ति स्पष्टता से पढा है और मन ने अपनी मथन-शीलता से उनके विषय मे अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। यहाँ उन्ही निष्कर्षों को शब्दाकित करने का प्रयास किया गया है।

व्यक्ति की आकृति को कागज पर उतारने मे जितनी कठिनाइयाँ होती हैं. उनसे कही अधिक उसके व्यक्तित्व को कागज पर उतारने मे होती हैं। आकृति सरूप होती है, उसे किसी एक ही क्षेत्र और काल के आधार पर चित्राकित कर देना पर्याप्त हो सकता है, परन्तु व्यक्तित्व अरूप होता है, साथ ही वह व्यक्ति के सम्पूर्ण क्षेत्र और काल मे व्याप्त रहता है, इसलिए उसे शब्दाकित करने मे अपेक्षाकृत दुरूहता रहती है। वह व्यक्तित्व यदि किसी महापुरुष का हो तो दुरूहता और भी अधिक वढ जाती है। उसके विषय मे कही गई प्रत्येक वात को जनता वडे ध्यान से नापती-जोखती है। अपने निष्कर्षों से लेखक के निष्कर्षों का मिलान करती है। यदि उनमे कही समानता नही हुई तो उसका भी उत्तर चाहती है। किन्तु यह निश्चित है कि सबके निष्कर्ष एक समान नही हो सकते। उनमे तरतमता रहती ही है। यद्यपि वह तरतमता निष्कारण नही होती। विभिन्न मानसिक स्तर, पूर्व-सकल्प तथा परिस्थितियाँ उसे उत्पन्न करती हैं। फिर भी शब्दांकन करते समय लेखक के लिए यह आवश्यकता तो हो ही जाती है कि वह न केवल अपने ही निष्कर्षों को आधार वनाये, अपितु दूसरो के निष्कर्षों से भी अभिज्ञ रहे तथा आवश्यकता हो तो उनके विषय मे मीमासा भी करे। मैंने इस वात का आद्योपात ध्यान रखने का प्रयास किया है।

यह प्राय. समग्र पुस्तक मैंने अपने गगाशहर चातुर्मास (स २०१८) मे ही लिखी है। इसके लेखन मे मैंने मुख्यत ख्यात का तथा जैन भारती के विभिन्न अको का उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त आचार्य तुलसी, समय-समय पर उनके कार्यक्रमो से सम्बन्धित निकलने वाले वुलेटिनो तथा कुछ अन्य पत्रो आदि का भी सहयोग लिया है। यद्यपि यह जीवनी आचार्यश्री के धवल समरोह के अवसर पर भारत के वर्तमान राष्ट्रपति

(तत्कालीन उपराष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा आचार्यश्री को जो अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया था, उसमे द्वितीय अध्याय 'जीवनवृत्त' के रूप मे प्रकाशित हो चुकी है फिर भी स्वतत्र पुस्तक के रूप मे इसका अधिक उपयोग सभव है इसका प्राय: सारा मेटर तो वही है जोकि अभिनन्दन ग्रन्थ मे दिया गया है। केवल तीन परिशिष्ट और जोडे गये हैं जोकि धवल-समारोह, जन्म-कुण्डली, चातुर्मासो और मर्यादा-महोत्सवो की सूची, उद्धृत ग्रन्थो की सूची तथा व्यक्तियो और गाँवो के नामो से सम्बद्ध हैं।

प्रथम परिशिष्ट के अतिरिक्त शेष परिशिष्ट मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' के परिश्रम का फल है। सामग्री चयन करने मे मुनि राजकरणजी, मुनि मागीलालजी 'मुकुल', 'मुनि ऋद्धकरणजी (श्रीडूँगरगढ) तथा मनोहरलालजी का बहुत बडा सहयोग रहा है। सम्पादन का कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने किया है।

किसी भी महापुरुष के जीवन का सर्वांगीण दर्शन कर लेना सहज नहीं है। उनके सर्वतोमुखी जीवन को देखने के लिए दृष्टि की भी सर्वतो-मुखता अपेक्षित होती है। मुझे यह स्वीकार करने मे तनिक भी सकोच नही है कि प्रस्तुत जीवन-दर्शन सर्वांगीण नही है। आचार्यश्री के जीवन-विषयक अनेक प्रसग इसमे छुए तक नही जा सके हैं। अनेक प्रसगों का सक्षेप भी किया गया है। इसकी परिपूर्णता मैं नही कर पाया हूँ; इसका मुझे तनिक भी खेद नही है, क्योकि मैं मानता हूँ कि किसी भी महापुरुष के जीवन का अध्ययन अथवा दर्शन 'इति' रहित ही होता है। उसमे केवल 'अथ' ही होता है। आचार्यश्री के विगत जीवन के अवशिष्ट प्रसग तथा भावी-जीवन मे प्रस्तुत होने वाले नवीन प्रसग अनेक द्रष्टाओ तथा अध्येताओ की अपेक्षा रखते ही रहेंगे। मेरा यह परिश्रम उन भावी द्रष्टाओं तथा अध्येताओ के लिए सहायक हो सकेगा, ऐसी आशा करता हूँ।

जयपुर
चन्दन महल, चौडा रास्ता
सं० २०१९ आषाढ पूर्णिमा

—मुनि बुद्धमल्ल

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी विविधताओ के धनी हैं। उनके एक ओर जहाँ आचार्यत्व की शासना है, वहाँ साधक की मृदुता भी। वे जहाँ कवित्व की रस-लहरी मे निमज्जन करते हैं, वहाँ दर्शन की शुष्क तथा उलझन भरी गुत्थियाँ भी सुलझाते हैं। जन-जन को आकृष्ट करने वाले वाग्मी हैं तो एकान्त वासी मौनी भी। वे परिषद् के बीच बैठकर शिष्यो के अध्ययन के द्वारा एकत्व का और एकान्त मे बैठकर काव्य-सर्जन के द्वारा बहुत्व का अनुभव सहज ही करते हैं। वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं तो अणुव्रत जैसे आन्दोलन के प्रवर्तक होने से नैतिकता के महामत्र के उद्गाता भी। अत किसी एक ही कोण से देखकर उन्हे परखने का प्रयत्न करना, वस्तु-स्थिति के साथ न्याय नही होता।

"जिनके जीवन मे न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द मे छिपकर रह जाता है और जिनमे ये विशेषताएँ होती है, उनके व्यक्तित्व मे शब्द छिपकर रह जाता है।" -साहित्य परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी की यह अनुभूति सत्य की अतलस्पर्शी गहराई की ओर सकेत करती है। आचार्यश्री तुलसी का प्रसरणशील व्यक्तित्व इसका जीवन्त प्रमाण है। वे कही शब्दो मे नही बँधे हैं, अपितु शब्द स्वय सिमिट-सिमिट कर उनसे प्रवाहित हुए हैं।

मुनिश्री ने, आचार्यश्री तुलसी के जीवन मे जो तेज, प्रवाह व बहा ले जाने का त्रिवेणी-सगम है, उसे शब्दो मे इस प्रकार से समाहित किया है कि वहाँ शब्द मूक न होकर स्वय व्यक्त बन गये हैं और पाठक आचार्यश्री के जीवन का साक्षात् अनुभव करने लगता है। इस कार्य मे मुनिश्री

असाधारण रूप से सफल हो पाये हैं। उनकी लेखिनी उनके विचारो का पूर्णतया अनुगमन करती है और विचार शृखला मे आवद्ध होते हुए भी अपनी गति से द्विगुणित होकर प्रस्तुत होते हैं। इस जीवन-दर्शन की सबसे अनूठी विशेपता तो यह है कि मुनिश्री लगभग तीस वर्षों से आचार्यश्री की विविधताओ का अध्ययन कर चुकने के अनन्तर इस कार्य मे प्रवृत्त हुए हैं। मुनिश्री ने वहुत वर्षों तक आचार्यवर को एक छात्र की स्थिति मे रहकर देखा और इसके अनन्तर आचार्यवर की वहुमुखी व क्रातिमूलक प्रवृत्तियो मे निरूपम सहयोगी रहकर उन्हे देखते रहे। अव जव कि आचार्यवर ने उन्हे साहित्य विभाग के परामर्शक के रूप मे नियुक्त कर दिया है, वे आचार्यवर को परखने मे और भी निकट हो गये हैं। आचार्यवर की विविधताओ का लेखा-जोखा मुनिश्री जैसे विविध दृष्टिकोणो से आचार्यवर को देखने वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

मुनिश्री वुद्धमल्लजी आशुकवि हैं, वाग्मी हैं तथा दर्शन के धरातल पर विचरने मे तर्क-प्रवण भी। उन्होंने अपने वाल्य-जीवन के दश वर्ष गृह-जीवन मे विताये, छ वर्ष अपने श्रद्धेय गुरु आचार्यश्री कालूगणी के चरणो मे साधना रत रहते हुए तो उससे अगले छव्वीस वर्ष आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे साहित्य साधना अध्यापन व अणुव्रत-विस्तार आदि विविध प्रवृत्तियो मे। उन्होंने अपनी पदयात्राओ से पजाव, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि मे नैतिक जागरण की अलख जगाई है तो दिल्ली मे उनका पड्वर्षीय प्रवास वहाँ के सार्वजनिक व साहित्यिक जगत मे तथा राजनैतिक वर्ग मे आज भी मुखर हो रहा है। उनकी काव्य-वाटिका के कुसुम साहित्यिक क्षेत्र मे पराग लुटाने के साथ ही जन-साधारण को भी प्रीणित करते रहे हैं और भविष्य उनसे और अधिक पाने की प्रतीक्षा कर रहा है।

हम सम्पादक द्वय कृतकृत्य हैं, जिन्हें ऐसी साहित्यिक कृति, जिसका हृदय आचार्यश्री तुलसी का जीवन-दर्शन है, सम्पादन करने का सुअवसर

प्राप्त हुआ। हम मुनिश्री से अब तक बहुत कुछ पाते रहे है। हमारा सम्पादन उनके प्रति एक विनम्र श्रद्धाजली भी बन सका तो वह हमारे लिए परम आह्लाद का विषय होगा।

६ अगस्त, १९६२

—मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
—मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

अनुक्रम

	पृ० स०
विषय-प्रवेश	**१-४**
(१) बाल्यकाल	**५-१३**
जन्म	५
घर की परिस्थिति	५
धार्मिकता की ओर झुकाव	६
एक दूसरा पहलू	७
दीक्षा के भाव	८
समस्या का सुलझाव	६
एक परीक्षा	१०
दीक्षा ग्रहण	१२
(२) मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष	**१४-२६**
विद्या का बीज-वपन	१४
ज्ञान कठा दाम अंटा	१४
स्वाध्याय	१७
सुयोग्य शिष्य	१८
गुरु का वात्सल्य	१८
योग्यता सम्पादन	२०
शिक्षा या संकेत ?	२१
विस्तार में योगदान	२३
(३) युवाचार्य	**२७-३२**
उत्तराधिकार समर्पण	२७
अदृष्टपूर्व	२६
अधूरा स्वप्न	३०
नये वातावरण में	३०
जब व्याख्यान देने गये	३१
केवल चार दिन	३२
(४) तेरापंथ के महान् आचार्य	**३३-८३**
शासन सूत्र	**३३-३६**
तेरापंथ की देन	३३
समर्पण भाव	३४
अनुशासन और व्यवस्था	३४
प्रथम वक्तव्य	३७
बयासी वर्ष के	३८
सुचारु सचालन	३८
असाम्प्रदायिक भाव	**३६-४७**
परमत सहिष्णुता	३६

	पृ० सं०
पांच सूत्र	४१
समय नही है	४२
सार्वत्रिक उदारता	४२
आगरा के स्थानक मे	४३
वर्णीजी से मिलन	४४
विजयवल्लभ सूरि के यहाँ	४४
दरगाह मे	४४
श्रावको का व्यवहार	४५
फादर विलियम्स	४६
साधु सम्मेलन मे	४६
चैतन्य विरोधी प्रतिक्रियाएँ	**४८-५४**
सेतुबन्ध	४८
विरोध से भी लाभ	४९
विरोधी साहित्य प्रेषण	४९
ढेर लग गया	५०
ऐसा होता ही है	५०
व्यक्तिगत पत्र	५१
समय ही कहाँ है ?	५१
मेरी हार मान सकते हैं	५२
कार्य ही उत्तर है	५३
सर्वांगीण विकास	**५५-७०**
भगीरथ प्रयत्न	५५
तेरापथ का व्याख्या-विकास	५५
युग धर्म के रूप मे	५६
विरोध और उत्तर का स्तर	५८
निरूपण शैली का विकास	५९
सस्कृत साधना	६०
हिन्दी मे प्रवेश	६२
भाषण शक्ति का विकास	६४
कहानियाँ और निबध	६६
समस्या पूर्ति	६७
जयज्योति	६७
एकाह्निक शतक	६८
आशुकवित्व	६८
अवधान	६९
अध्यापन-कौशल	**७०-८३**
कार्यभार और कार्यवेग	७०
अपना ही काम है	७२
तुलसी डरै सो ऊबरै	७३
उत्साह दान	७४
अनुशासन-क्षमता	७५
विकास का बीज मत्र	७७
कही मैं ही गलत न होऊँ ?	७८
उदार व्यवहार	७९
साध्वी-समाज मे शिक्षा	८०
अध्ययन की एक समस्या	८०
पाठ्यक्रम का निर्धारण	८१

पृ० स०

(५) अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक ८४-१२०

समय की मांग ८४
रूपरेखा ८७
पूर्वभूमिका ८८
नामकरण ८९
व्रतो का स्वरूप-निर्णय ९०
असाम्प्रदायिक रूप ९२
सहयोगी भाव ९३
प्रथम अधिवेशन ९४
पत्रो की प्रतिक्रिया ९५
आशावादी दृष्टियां ९७
सन्देह और समाधान १०१
आन्दोलन की आवाज १०५
नये उन्मेष ११०

प्रकाश स्तम्भ ११४-१२०

क्या पूजे ? ११६
नदी मे ११६
यह मुझे मजूर नही ११६
रिश्वत या जेल ११६
ब्लैक स्वीकार नही ११७
गुड की चाय ११७
सत्य की शक्ति ११८
दूकानो की पगडी ११८
एक चुभन ११९

पृ० स०

(६) विहार चर्या और जन सम्पर्क १२१-१६७

विहारचर्या १२१-१३८

कार्य कारण भाव १२१
प्रचण्ड जिगमिषा १२२
शाश्वत यात्री १२३
प्रथम यात्रा १२४
द्वितीय यात्रा १३०
तृतीय यात्रा १३४
चतुर्थ यात्रा १३८

जन-सम्पर्क १३८ १६७

साधारण जन-संपर्क १३९-१४३

एक पुकार १४०
हरिजनो का पत्र १४१
छात्रो का अनशन १४२
नाना का दोष १४२
एक सामाजिक विग्रह १४३

विशिष्ट जन-सम्पर्क ४३-१५५

आचार्यश्री और राष्ट्रपति १४५
आचार्यश्री और उप-राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् १४६
आचार्यश्री और प्रधानमत्री श्री नेहरू १४८
आचार्यश्री और अशोक मेहता १५०

पृ० नं०

आचार्यश्री और
संत विनोबा भावे १५१
आचार्यश्री और
श्री मुरारजी देसाई १५३
प्रश्नोत्तर १५५-१६७
डॉक्टर के० जी० रामाराव १५६
डॉक्टर हर्बर्ट टिशि १५९
डॉक्टर फेलिक्स वेल्यि १६१
श्री जे० आर० बर्टन १६३
श्री बुरलैंड वेहलर १६४
डानेन्ड दम्पति १६६

(७) महान् साहित्य स्रष्टा १६८-१९६

श्री कालू यशोविलास १६६
माणक महिमा १७३
श्रीकालू उपदेश-वाटिका १७५
श्रद्धेय के प्रति १७८
प्रबंध काव्य १७९ १८८
आषाढभूति १७९
भरत-मुक्ति १८२
अग्नि-परीक्षा १८४
संस्कृत साहित्य १८६
धर्म संदेश १८९
मधु-संचय १९०

पृ० सं०

(८) संघर्षों के सम्मुख १९७-२१५

आन्तरिक संघर्ष १९८-२०३
दृष्टिकोण की व्यापकता १९९
अणुव्रत-आन्दोलन १९९
अस्पृश्यता निवारण २०१
पारमार्थिक शिक्षण संस्था २०२
बाह्य संघर्ष २०३-२१५
विरोध के दो स्तर २०३
दीक्षा विरोध २०४
एक अकारण विरोध २१३

(९) जीवन शतदल २१६-२५८

शारीरिक सौन्दर्य २१७-२१९
पूर्ण दर्शन २१७
नेत्रों का सौन्दर्य २१७
ठीक बुद्ध की तरह २१९
आत्म सौन्दर्य २१९-२२१
प्रखर तेज २२०
शक्ति का अपव्यय क्यों ? २२०
प्रशंसा का क्या करें ? २२१
क्या पैरो मे पीड़ा है ? २२१
शान्ति वादिता २२२-२२५
प्रथम झलक २२२

पृ० स०

स्वाध्याय ही सही २२३

शान्ति का मार्ग २२४

गहराई में २२५-२२७

पीछे से भी २२५

पैंडी का दोप २२५

टोपी का रग २२६

सम्प्रदाय, धर्म की शोभा २२६

नास्तिकता पर नया प्रकाश २२७

कार्य ही उत्तर है २२७

भूख नही सताती २२८

फोटो चाहिए २२८

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ २२९

गर्म का बिगाड २२९

परिश्रम शीलता २२९-२३१

अधिक बीमार न होजाऊँ ? २३०

श्रम उत्तीर्ण कराता है २३०

पुरुषार्थवादी हूँ २३०

दयालुता २३१-२३४

कैसे जा सकते हैं ? २३१

विना भक्ति तारो तापै तारवो तिहारो है २३२

द्वेष को विस्मृत कर दो २३२

भावना कैसे पूर्ण होती ? २३३

झोपडे का चुनाव २३४

पृ० स०

वज्रादपि कठोराणी २३४-२३८

कोई भी धर्म-श्रवण के लिए आ सकता है २३४

इस मन्दिर मे भगवान् नही हैं २३५

सिद्धान्त-परक आलोचना २३६

कुप्रथा को प्रश्रय नही २३६

श्मशान मे भी २३७

एकात्मकता २३८

प्रत्युत्पन्नमति २३९-२४२

पादरी का गर्व २३९

आप लोग क्या छोड़ेंगे ? २३९

वास्तविक प्रोफेसर २४१

कोई तो चाहिए २४१

नीद उडाने की कला २४२

यह तो सुविधा है २४२

विचार प्रेरणा २४३-२४७

आशा से भर दिया २४३

मेरा मद उतर गया २४४

हिन्दू या मुसलमान ? २४५

भोजन का अधिकार २४५

हमारा अनुभव भिन्न है २४६

शकर-प्रिया २४६

गगाजल से भी पवित्र २४७

सबसे समान सम्बन्ध २४७

	पृ० नं०
चरण-स्पर्श कर सकते हैं	२४७
विनोद	**२४८-२५१**
एक घड़ी	२४८
पदा-समर्थकों को लाभ	२४८
यह भी कट जावेगी	२४९
कुआँ, प्याने के घर	२४९
भाग्य की कसौटी	२४९
अंधेरे में प्रकाश में	२५०
जो आज्ञा	२५०
अच्छाई-बुराई की समझ	२५०
प्रामाणिकता	**२५१-२५२**
हीनता की बात	२५१
श्रद्धा का सदुपयोग करें	२५१
पांच मिनट पहले	२५२
वक्तृत्व	**२५२-२५३**
वाणी का प्रभाव	२५२
उनकी आत्मा बोल रही है	२५३
विविध	**२५४-२५८**
मैं अवस्था मे छोटा हूँ	२५४
मध्यम-मार्ग	२५५
भेंट क्या चढाओगे ?	२५५
फीस भी लेता हूँ और पद भी देता हूँ	२५६
आपका चरणामृत मिले तो	२५७
छोटे का बडा काम	२५७

	पृ० सं०
हमने के बेरा ?	२५८
उपसंहार	**२५९-२६२**
प्रथम परिशिष्ट	**२६३-२७७**
धवल-समारोह	
सम्मान से अधिक मूल्यवान्	२६३
अखंड आशा	२६३
'रजत' बनाम 'धवल'	२६४
धवल समारोह समिति	२६४
तीन कार्य	२६५
व्यक्ति पूजा या आदर्श पूजा	२६५
दो चरण	२६७
प्रथम चरण	२६७
द्वितीय चरण	२६७
ग्रन्थ-समर्पण	२६८
अभिनन्दन ग्रन्थ	२६९
सम्पादक मडल	२७०
आचार्य श्री का उत्तर	२७१
उपलब्ध तथ्य	२७१
साधु संस्थाओं से	२७२
गौरव पूर्ण अस्तित्व के लिए	२७३
साधुवाद और आह्वान	२७३
आभार प्रदर्शन	२७४
सम्मान	२७४
परामर्शक नियुक्ति	२७५
आशीर्वाद	२७५

वदनाजी के प्रति २७६
स्मरण २७६
विविध गोष्ठिया २७६
विशेषांक समर्पण २७६
साहित्य सम्पादन २७७
साहित्य की भेंट २७७
द्वितीय परिशिष्ट २७८-२८०
आचार्यश्री की जन्म-कुण्डली २७८
आचार्यश्री के चातुर्मासो की सूची २७६
आचार्यश्री के मर्यादा-महोत्सवों की सूची २७६
तृतीय परिशिष्ट २८१-२८८
उद्घृत ग्रन्थों की सूची २८१
व्यक्तियो के नाम २८२
गांवो के नाम २८६

विषय प्रवेश

आचार्यश्री तुलसी तेरापथ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन मे वर्तमान मे तेरापथ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र मे भी इस अवसर पर तेरापथ ने बहुत बडा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप मे विस्तीर्ण हुआ है। सक्षेप मे कहा जाए तो यह समय तेरापथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्यश्री ने अपना समस्त समय सघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधाओ की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य मे जुटे रहते हैं। इसीलिए आचार्यश्री के शासन-काल को तेरापथ के प्रगति-काल या विकास-काल की सज्ञा दी जा सकती है।

आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनो ही प्रकार का व्यक्तित्व बडा आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। मँझला कद, गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई तेज आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हे देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुको के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मैंने स्वय सुनी हैं। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हे देखकर भाव-विभोर-सा हो जाता है। उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कही बढ-कर है। वे एक धर्म सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सभी सम्प्रदायो की विशेषताओ का आदर करते हैं और सहिष्णुता के आधार पर उन सबमे नैकट्य स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं, अत.

समस्त मानवो के सुसस्कारो को जगाकर भूमण्डल से अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने मे जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे वहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय मे से भी कटौती करते रहते हैं। अपराजेय साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावो को सहजता से ही ताड लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहाद्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका वाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहो से परे है, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियो के लिए सन्देह-स्थल भी वना है। कुछ लोगो ने उनमे द्वैध-व्यक्तित्व की आशकाएँ की हैं। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदाया-तीत मालूम दिया है तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमे उदारता और स्नेहाद्रता के दर्शन किये है तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियो के लिए अभी तक अज्ञेय रहे हैं। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं, अत' अपने-आपको विलकुल स्पष्ट मानते हैं, परन्तु उनमे भयकर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। वे अहिंसक हैं, अत अपने लिए किसी को अमित्र नही मानते, फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयकर विरोधी मानते हैं। भारत के प्राय सभी प्रमुख पत्रो ने तथा कुछ विदेशी पत्रो ने भी जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्त्वपूर्ण वतलाया है तो कुछ छोटे पत्रो ने उनको जी-भर कर कोसा भी है। इतना ही नही, किन्तु उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएँ भी की, पर ये उन सवको एक भाव से देखते रहे। न स्वय उन विरोधो का प्रतिवाद किया और न अपने किसी अनुयायी को करने दिया। वे सत्यशोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विनोद की ही तरह सहज भाव से ग्रहण करते हैं। अपनी इस भावना को उन्होने अपने एक पद्य मे यों व्यक्त किया है :

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।
सत्य, सत्य-शोध मे, तब ही सफलता पाएँगे।

अनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारो का समर्थन करने वाला तथा अनेको ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्च स्तर पर उत्तर भी दिया है। वे 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' को एक बहुत बडा तथ्य मानते हैं। वे आलोचनाओ से बचने का प्रयास नही करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते हैं। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उस पर उनकी भावनाएँ मुखर होती रही हैं, जब कि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णत. मौन धारण करते रहे हैं।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय मे विविध व्यक्तियो के विविध विचार हैं, पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रचण्डता और अदमनीयता का परिचायक है। वे समन्वयवादी हैं, अत. जहाँ दूसरों को अन्तर्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका दिखाई पडती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियो को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दो मे बाँधना बहुत कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दो मे बाँधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन मे न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द मे छिपकर रह जाता है और जिनमे ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व मे शब्द छिपकर रह जाता है। समस्या दोनो जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दो मे बाँधने वाले के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है, उससे कही अधिक वह बाहर रह जाता है। शब्द उसके सामर्थ्य को अपने में अटा नहीं पाते, उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दो के ये बाट बहुत ही हलके पड़ते हैं।

: १ :

बाल्यकाल

जन्म

आचार्य श्री तुलसी का जन्म वि० सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया राजस्थान (मारवाड़) के लाडणू शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनाजी है। ये ओसवाल जाति के खटेड़ गोत्रीय हैं। छः भाइयो में वे सबसे छोटे हैं। उनके तीन बहनें भी हैं। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हें 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बड़े नामी आदमी होंगे। उनकी यह बात उस समय तो सम्भवत. प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्य वाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्य श्री के संसार पक्षीय दादा राजरूपजी खटेड़ काफी प्रभाव-शाली तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगज (अब यह पूर्वी पाकिस्तान में है) में राजबहादुर बाबू बुधसिहजी के यहा मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बड़ा व्यापार था और उसकी सारी देखभाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार मे बडे निपुण थे, अत. उस क्षेत्र मे उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका बडा रोबीला था।

सं० १९४४ मे सेठ बुधसिहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत यात्रा पर गये तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक झगडा चल पडा था।

उनके विरोधी-पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालो को जाति-वहिष्कृत कर दिया था। उस झगड़े मे श्रीसघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनके वहाँ से नौकरी छोड दी और घर आ गये। पहले कुछ दिनो कही अन्यत्र मुनीमी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे, परन्तु जिस सम्मान और रौव से वे सिराजगज मे रह चुके थे; उससे कम मे रहना उन्हे पसन्द नही था। उतना कही मिल नही सका, अत वे तव से प्राय घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल-स्वभावी व्यक्ति थे। वे व्यापार मे अधिक सफल नही हो सके। कमाई साधारण रही और परिवार वडा होने से व्यय अधिक रहा, अत धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया। स० १९७३ मे राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके वाद स० १९७६ मे झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतो के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी अधिक दवाव पड़ा, किन्तु आचार्यश्री के वडे भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सम्भाल लिया। उन्होने वहुत कम समय मे ही उस ऋण को उतार दिया तथा अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार कार्य मे लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति सुधारने मे यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरो पर खडा होकर सम्मानित जीवन विताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालो मे प्राय सभी की धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमे भी वदनाजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडणू मे स० १९१४ से लगातार वृद्ध सतियो का स्थिरवास चला आ रहा है। साध्विया जहा रहती हैं, वहाँ पास मे ही उनका घर है, अत उनका फुरसत का समय प्राय वही व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चित वँधे हुए थे ही। वे अपने वालकों को भी दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रही थी। जव कोई भी वालक

प्रातराश के लिए कहता; तो वह बहुधा पूछ लिया करती थी कि दर्शन कर आया कि नही। यदि दर्शन किये हुए नही होते तो वे यही चाहती कि एक बार वह दर्शन कर आये। उनकी इस नैरन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया था कि साधु-साध्वियो के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था मे ही थे, फिर भी घर के अन्य सदस्यो के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। उनका धर्म के प्रति एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब स०१९८१ मे दीक्षा ग्रहण की, तब से तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुये थे। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातारण मे वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन मे जब दैवी सस्कारो का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आसुरी-सस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का जोर मारते हैं। वे किसी न किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। वैसी स्थिति मे अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं तो अनेक सम्भल कर वैसे सस्कारों पर विजय पा लेते हैं और उन्हे सत् सस्कारो मे परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन मे भी कुछ-एक ऐसे क्षण आए, जब कि एक ओर तो धार्मिक सस्कार उनके मन मे जड़ जमाने लगे और दूसरी ओर से आसुरी सस्कारो ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होंने स्वय अपने 'अतीत के कुछ सस्मरण' लिखते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—एक बार उन्ही के एक कौटुम्बिक जन ने उन्हे बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' मे एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमें देवता बोलता है, परन्तु उसको नारियल चढाना आवश्यक होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हें देवता की बोली सुना सकते हैं। बाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने नारियल ले आने

का वचन दिया और घर मे जाकर चुपके से एक नारियल उठा लाये। मन्दिर मे छिपकर किसी व्यक्ति के वोलने को ही उन्होंने अपनी वाल-सुलभ सरलता से देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर मे उन्होंने कई वार नारियल चुराये, परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसगति से छूट गये और सत् सस्कारो की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

स० १९८२ के मिगसर महीने मे आचार्यश्री कालूगणी का लाडणू पदार्पण हुआ। उस समय वालक तुलसी को प्रथम निकटता से आचार्य देव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। इस निकट सम्पर्क ने उनके पूर्वार्जित सस्कारो को उद्‌वुद्ध कर दिया। फलस्वरूप वालक होते हुए भी वे विराग-भाव से रहने लगे। मनन करते। मन मे जो प्रश्न उठते, उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनाजी उन्हे जो सरल-सा उत्तर देती, उस समय उनकी जिज्ञासा उसीसे तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होने अपने घरवालो के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे वाल-भाव का एक विनोद-मात्र समझ कर योही टाल दिया गया। उन्होने कुछ दिन वाद फिर अपनी वात को दुहराया; परन्तु किसी ने उस वात पर गम्भीरता से ध्यान नही दिया। उन्हे इस वात पर वहुत खेद हुआ कि वे जिस वात को एक तथ्य के रूप मे कहना चाहते हैं, घरवाले उसे एक वाल-भाव मात्र समझते हैं, परन्तु वस्तुतः वात ऐसी नही थी। घरवाले उनकी इस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गये थे। अपनी 'हाँ' या 'ना' से वे इस वात को खीचकर अधिक पक्का करना नही चाहते थे। वे इस समस्या को सुल-झाने का अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने मे लगे थे।

उनकी वहिन लाडाजी के कुछ समय से दीक्षा लेने के विचार थे। आचार्यश्री कालूगणी के पदार्पण से ऐसी सम्भावनाएँ की जाने लगी थी कि सम्भवत इस अवसर पर उन्हें दीक्षा की स्वीकृति मिल जाए। परि-

वार के प्रमुख तथा अगुआ सदस्य मोहनलालजी उस समय बंगाल में थे। उनको बुलाये बिना न लाडांजी के विषय में कोई निश्चित कदम उठाया जा सकता था और न बालक तुलसी के विषय में। दोनों समस्याओं का हल एक ही था कि मोहनलालजी को यहां बुला लिया जाये; फिर वे क्या कुछ करना है तथा कैसे करना है; इसकी चिन्ता स्वयं ही कर लेंगे। वे उन दिनों सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) में रहा करते थे। उन्हें तार दिया गया कि लाडांजी की दीक्षा की सम्भावना है, शीघ्र आओ। तार पढ़कर वे तुरन्त लाडनूं चले आये। स्टेशन पहुँचने पर पता चला कि तुलसी भी दीक्षा की बात कर रहा है तो वे बहुत झल्लाए। कहने लगे कि मुझे यह खबर होती तो मैं आता ही नहीं। आखिर वे घर पर आये। घर वालों को बहुत-कुछ कहा-सुना। आपको भी अच्छी-खासी डाँट सुनाई और आगे के लिए ऐसी बात को मुंह में भी न घालने की चेतावनी दी।

जो टलने का नहीं होता; उसे कैसे टाला जा सकता है? बात रुकने की नहीं थी सो नहीं रुकी। जब तब सामने आती रही। उनके चौथे भाई मुनिश्री चम्पालालजी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। उनकी प्रेरणा थी कि वे इस दीक्षा मे बाधा न दें; परन्तु मोहनलालजी अब और किसी भाई को दीक्षित होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वे दीक्षा की स्वीकृति नहीं देंगे। तेरापंथ की दीक्षा-विषयक नियमावली के अनुसार अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षा नहीं दी जा सकती। मोहनलालजी को अनेक व्यक्तियों ने समझाने का प्रयास किया। मुनिश्री मगनलालजी ने भी उनसे कहा; पर वे नहीं माने।

समस्या का सुलझाव

आपने जब देखा कि यह समस्या यों सुलझने वाली नहीं है तो अपने में से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन मे एक विचार कौंधा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी। आप वहाँ गये और व्याख्यान मे खडे होकर कहने लगे—गुरुदेव! मुझे आजीवन विवाह करने

और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग करा दीजिये। सुनने वाले चकित रह गये। मोहनलालजी सोच मे पड गये कि यह क्या हो रहा है ? आचार्य-देव ने शान्त भाव से समझाते हुए कहा—तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बडी बात होती है।

गुरुदेव के इस कथन से मोहनलालजी बडे आश्वस्त हुए, परन्तु आपके मन मे बडी उथल-पुथल मच गई। जो सोचा था, वह द्वार खुल नही पाया। वे एक क्षण रुके, कुछ असमजसता मे पडे और दूसरे ही क्षण दूसरे मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—गुरुदेव ! मैं आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ।

मोहनलालजी अब कहें तो क्या कहे और करें तो क्या करें ? बहुत व्यक्तियो ने पहले उनको समझाया था, पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रहा था। समस्या की जो डोर सुलझ नही पा रही थी, आपके इस उपक्रम से वह अपने आप सुलझ गई। बात का और डोर का सिरा हाथ लग जाने पर उसे सुलझते कोई देर नही लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामो की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। गुरुदेव के चरणो मे दीक्षा प्रदान करने के लिए विनति प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके बाद फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा-प्रदान करने के लिए पौष कृष्णापचमी का दिन घोषित कर दिया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई

---

१ उन दिनों थली के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे उसे 'परदेश जाना' कहा करते थे।

बिछी हुई थी। जब वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही ठीक अवसर समझकर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा कि कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु-जीवन मे कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती हैं, अत बडी सावधानी और साहस से तुम्हे रहना होगा। अभी तुम बालक हो, अत भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सताएँगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा तो कभी किसी समय। कही आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशो मे विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे तो मार्ग मे न जाने कैसे-कैसे कष्टो का सामना करना पडेगा। अन्य सब कष्ट तो आदमी फिर भी सह सकता है; परन्तु यदि आहार-पानी नही मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टो को सहना बड़ा ही कठिन हो जाएगा। परन्तु हाँ, उसका एक उपाय हो सकता है। इतना कहकर उन्होंने अपने पास से एक सौ रुपये का नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे कि यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का सकट आए, तब तुम इसे अपने काम मे ले लेना।

अपने बडे भाई की यह बात सुनकर वे बहुत हँसे और छोटा-सा उत्तर देते हुए कहने लगे कि साधु हो जाने के बाद नोट रखना कल्पता ही कहाँ है?

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा कि रुपये-पैसे रखने तो नही कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज है। क्या तुम प्रतिदिन नही देखते कि साधुओ के पास कितने कागज होते हैं? तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागजो पर ही साधुओ द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने सारे कागज कल्प से बाहर नही हैं तो फिर यह छोटा-सा कागज क्यो नही कल्पेगा? उनमे और इसमे आखिर अन्तर भी क्या है? अपने 'पूठे' मे एक ओर रख लेना, पड़ा रहेगा, तुम्हारा इसमे नुकसान भी क्या है? समय-बे-समय काम ही आयेगा।

उनकी इतनी सारी बातो के उत्तर मे वे केवल हँसते रहे और बोले—

ये तो रुपये ही हैं। यह नही कल्पता। बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नही हैं, अपितु अन्तरग से है और साथ मे सयम की सीमाओ का भी ज्ञान है। उन्होने नोट को यथा-स्थान रख लिया और परीक्षा मे उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्य श्री कालूगणी को लाडणू आये एक महीना पूर्ण हो चुका था, अतः चौथ के दिन ही वहाँ से विहार कर गाँव से बाहर महालचन्दजी बोरड की कोठी मे पधार गये। कोठी के बाहर ही बहुत बडा खुला चौक है। वही दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया था। प्रात - काल ही हजारो व्यक्तियो के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वही से विहार करके सुजानगढ पधार गये। वह दिन स० १९८२ पौष कृष्णा पचमी का था।

इस दीक्षा को आचार्यश्री कालूगणी ने सम्भवत प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नही की थी, किन्तु कुछ दिन बाद एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बातें चल पडी थी। मुनिश्री चोथमलजी ने कहा कि पहले तो शकुनो के फल प्रायः मिला करते थे, यही सुना जाता है, पर अब तो वैसा कुछ नही देखा जाता। कालूगणी ने तब इसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया कि नही ही मिलते, ऐसी तो कोई बात नही है। अभी हम लोग बीदासर से विहार करके लाडणू जा रहे थे, तब अच्छे शकुन हुए थे। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई ?

मालूम होता है, उनके इन शब्दो के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी, जिसको कि उन्होंने कुछ खोला और कुछ ढके ही रहने दिया था। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी को निष्ठा हुई हो, चाहे न हुई हो, पर अब यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि

आचार्य श्री कालूगणी का उस शकुन के विषय मे जो विचार था, वह बिल्कुल सत्य निकला। आचार्य तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की लघु अवस्था मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके बाद वे तत्काल ही विद्यार्जन मे लग गये। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय मे उनकी विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था मे जब उन्होंने अपना प्रारम्भिक अध्ययन शुरू किया था, तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष विश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होंने गृहस्थ जीवन मे किया था, किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम; इन तीनो का एकत्र सयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बडी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठाँ दाम अण्टाँ

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए दशवैकालिक सूत्र को, जो कि प्राय प्रत्येक नव-दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है, उन्होंने बहुत थोड़े ही समय मे कण्ठस्थ कर लिया। उसके बाद वे सस्कृत-अध्ययन मे लग गये। वे 'ज्ञान कण्ठाँ और दाम अण्टाँ, इस राजस्थानी कहावत के हार्द को भली भाँति जानते थे, अत. कण्ठस्थ करने मे उनका विशेष ध्यान था। उन्होने अपने विद्यार्थी-जीवन मे करीब

२० हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीनकाल मे तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सारा का सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था, परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओ के समय मे भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होंने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया था। उनके कण्ठस्थ किये गये ग्रन्थो मे व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम-विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त उन्होंने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का अधिकार-पूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के संचालक मुख्यत- स्वय आचार्यश्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न, पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमे काफी अच्छा सहयोग रहा था। सस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओ को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

खान-पान-चिन्ता तजै, निश्चय मांडै मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, जद आवै व्याकरण॥

अर्थात् "जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओ को छोडकर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोक देता है, तथा उतने समय के लिए घोटने, चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है, तब कही सस्कृत-व्याकरण को हृदयगम करने मे सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्य-वर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते थे कि व्याकरण सीखने वालो को अपना सकल्प कितना दृढ करने की तथा अपनी वृत्तियो को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्थी-जीवन मे कालूगणी की उसी प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नही, वे तो जिस विषय को हाथ मे लेते थे, उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही

अपने आपको झोंक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी इस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थी-जीवन की उनकी वह प्रकृति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते उसे बहुत स्वल्प समय मे ही पूर्ण कर छोडते। इसीलिए उनकी त्वरता मे दूसरो का उनके साथ निभ पाना प्राय कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक, भ्रमविध्वसन, अभिधान-चिन्तामणि (नाम माला), सिद्धान्त चन्द्रिका, भिक्षुशब्दानुशासन, प्रमाणनयतत्त्वालोक और षड्दर्शन-समुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होने कण्ठस्थ किये ही थे, परन्तु शान्त-सुधारस, भक्तामर आदि अनेकस्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे-बडे व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे, जिन्हें कि साधारणतया पढ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण सस्कृत-धातुपाठ, गणरत्न महोदधि तथा उणादि-सूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थो मे गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं, परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढने-मात्र से ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है ? अल्प बुद्धि छात्रो को वह भार अवश्य हो सकता है, परन्तु वे उस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहाँ होते हैं ? सम्भवत उस अवस्था मे आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेनें मे ही अधिक आनन्द मिलता था।

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी स०१९९० के शीतकाल में मारवाड के छोटे-छोटे गावो में विहार कर रहे थे। कही अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नही थी। ऐसी

स्थिति मे भी उन्होंने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रातःकालीन समय का अधिकांश भाग प्राय विहार करने मे ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश मे पढना सघीय मर्यादा से निषिद्ध होने के कारण रात्रि का समय भी काम नही लग सकता था। दिन मे साधुचर्या के अन्यान्य दैनदिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। इन सबके बाद दिन मे जो समय अवशिष्ट रहता, उसमे से कुछ हम लोगो को पढाने मे लगा दिया जाता था और शेष समय मे वे स्वय पाठ कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओ के बावजूद भी उन्होने उस विशाल ग्रन्थ को केवल ६८ दिनो मे ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनो वे प्रतिदिन पच्चास-साठ से लेकर सौ-सवासौ पद्यो तक याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने मे जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने मे भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्तना कर लिया करते थे। शीतकाल मे तो प्राय. पश्चिम-रात्रि मे आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते थे और पाठ-श्रवण कियो करते थे। पूर्वरात्रि के समय मे भी उन्हे जितना समय मिल पाता, उसका अधिकाश वे स्वाध्याय मे ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नीद या आलस्य आने लगता तो खड़े हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व ही दो-दो हजार पद्यो तक का स्वाध्याय कर लिया करते थे। प्रारम्भिक समय की अपनी वह प्रवृत्ति आज भी आचार्यश्री अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं। यद्यपि पूर्वरात्रि मे जन सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हें विशेष समय नहीं मिलता, फिर भी पश्चिम रात्रि मे वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते हैं। कभी-कभी वे नव-दीक्षितो का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य शिष्य

तेरापथ मे आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं, उन सबमे बडा दायित्व है—भावी संघपति का चुनाव। उसमे आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज मे से ऐसे व्यक्ति को खोज कर निकालना होता है, जो प्राय सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने मे सफल हुआ हो, तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते हैं, पर श्रद्धेय नही बना सकते। श्रद्धेय बनने मे आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणो की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशालिता अवश्यम्भावी होती है, जबकि प्रभावशालिता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नही भी।

इस विषय मे आचार्यश्री कालूगणी बडे भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने मे उन्हें कभी चिन्तित नही होना पडा। आप जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये थे। आप अपने विद्यार्थी-जीवन मे ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ संघ के अधिकांश व्यक्तियो के लिए श्रद्धास्पद भी बन गये थे। प्रभाव व्यक्तियो के शरीर पर ही नियत्रण स्थापित करता है, जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा सचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है, जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियन्त्रण की अपेक्षा से यह बहुत उच्च कोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवनदायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न पनपता है और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो; यह कोई विशेष बात नहीं

है, किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते हैं; तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी, परन्तु आपको शिष्य रूप मे प्राप्त कर स्वय आचार्यश्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई थी; वह अवश्य ही आश्चर्य-जनक थी। आपने आचार्यश्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया था, वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नही था। कोरा वात्सल्य उच्छृखलता की ओर ले जाता है तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब ये जीवन मे साथ-साथ चलते हैं, तब जीवन में सन्तुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र मे व्यक्ति को विकास-शील बनाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओ को बारी से करना होता है) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा मे लगा देखना चाहते थे। इस विषय मे आप स्वय भी बड़े जागरूक रहते थे। पांच-दस मिनट का समय भी आपके लिए बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय मे कर लिया करते थे। स्वय गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग करें। इस विषय मे समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता हैं कि गुरु-देव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जनपद-विहार चालू था। वृद्धा-वस्था के कारण मार्ग मे अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीख कर। आप साथ मे रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे, अत आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नही

किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा; वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके बाद आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घंटा समय निकल सकता था। उसे आप अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन मे हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके बाद वक्तृत्वकला मे भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न के व्याख्यान का कार्य आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है, कही होता है, कही नही भी होता, परन्तु उस समय उसका बड़ा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते तब लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्यश्री कालूगणी स्वयं उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मैं 'सूक्ति मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य मे आप उनका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठो का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते हैं कि मैं ज्यो-ज्यो अवस्था मे बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर मे गाने और बोलने का प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते हैं कि ऐसा किये बिना कण्ठो का माधुर्य बना नहीं रह सकता। आपके विचार मे लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आस-पास, जबकि शारीरिक विकास त्वरता से होता है, तब ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक बेसुरे बन जाते हैं।

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्व-पूर्ण वर्षों मे से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मालवा की यात्रा

मे ही वीते थे। इससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली मे ही विहार करते रहे थे। आपकी दीक्षा के वाद यह उनका प्रथम जनपद-विहार था, तथा उनके अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। यह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओ तथा उनके क्षेत्रो से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। इस यात्रा से पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल मे उसका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए ये वर्ष वहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने सस्कारो के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्यश्री कालूगणी के सान्निध्य मे प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवो के आधार पर एक आकर्पक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओ का निखार स्वय आचार्यश्री कालूगणी को इप्ट था। वे उसकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

शासन की आन्तरिक प्रवृत्तियो मे भी आचार्यश्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते थे। उनका वहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण वनाने का रहा करता था। इन्ही कारणो से आपकी ओर समूचे सघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विपय मे वडी-वडी कल्पनाएँ करने लगे। संघ के विशिप्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया था, वह सचमुच ही वड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

उन दिनों मारवाड मे कांठे के गाँवो मे विहार हो रहा था। एक वार सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जव आप वदन के लिए गये तो आचार्यश्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का सकेत किया। आपने समीप जाकर वदन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि सवको सिखा देना। वह सोरठा था :

सीखो विद्या सार, पर हो कर परमाद नं ।
वधसी वहु विस्तार, धार सीख धीरज मनं ॥

दूसरे दिन शाम को गुरु-वदन के पश्चात् जव आप मत्री मुनिश्री मगनलालजी को वदन करने गये, तव उन्होने पूछा—कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था; उसके उत्तर मे तू ने वापिस कुछ निवेदन किया या नही ?

आपने कहा—किया तो नही।

आगे के लिए मार्ग वतलाते हुए मत्री मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—अव कर देना।

आपने उस वात को शिरोधार्य कर उत्तर मे जो सोरठा निवेदित किया, वह इस प्रकार है :

महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमलनों
सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव गति लहूं।

अकेले आचार्यश्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यो को शिक्षा दी गई है। पूर्व भूमिका सहित जव दोनो सोरठों को देखते हैं, तव लगता है कि सवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ? वह अपने समाधान के लिए गहराई मे जाता है, तव इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओ के प्रकाश मे जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अर्ध-प्रकाशित सकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे, अत उनके मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना जरा कठिन होता था। मत्रीमुनि उनके वाल्यावस्था के साथी थे; अत सम्भवत वे उनके सकेतो को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होने आपको उस साकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन सकेतों को समझने के साधन तो नही थे, पर अनुमान अनेको का यही था कि इसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ

भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार मे योग-दान

बीज छोटा होता है, पर उसकी योग्यताए बहुत बड़ी होती हैं। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओ का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार मे अनेको का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढता है। आचार्यश्री मे व्याप्त बीज-शक्तियो का विकास भी इसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ हैं, वैसे बनते अनेक वर्ष लगे हैं। आज भी वे अपने आपको परिपूर्ण नही मानते। वे मानते हैं कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसकोच भाव से ग्रहण करते ही रहना चाहिए। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन से आज तक अनेको व्यक्तियो से सीखा है। हरएक का यही क्रम होता है। पहले स्वय सीखता है, तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है ? हरएक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसीसे प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने मे सहयोगी बनते ही हैं, जिनके कि सम्पर्क मे आने रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है, इनका विश्लेषण करना सहज नही होता; अतः उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत से व्यक्तियो के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते हैं। उन्हें पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियो के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-सभृत व्यवहार होता है, वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे है, परन्तु वे स्वय भी अनेकों से उपकृत हुए हैं। वे अपने उपकर्ताओ के विषय मे अपने कर्त-व्य को जानते हैं। उन व्यक्तियो के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष-उपकारको मे वे अपना सबसे बडा उपकारक आचार्यश्री

कालूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होकर चलते हैं। अपनी हर क्रिया की श्रेयोभिमुखता मे उन्ही की आन्तरिक प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारो को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। वे आज जो कुछ हैं, यह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन हैं।

माता वदनाजी के उपकार को भी वे बहुत महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर शतशाखी बना है। आगम कहते है कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाएँ करे, तो भी वह ऋण-मुक्त नही हो सकता। उनको धार्मिकता मे नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएँ इतिहास मे विरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की ऋजुता, निरभिमानता तथा तपस्या ने उनके सयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने भी आपके निर्माण मे बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्व प्रथम वे आपकी दीक्षा मे सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालो को इतनी शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया था। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे थे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यो का मार्ग प्रशस्त करते रहे थे। आचार्य बनने के बाद वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख अवलम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके इस महत्त्वपूर्ण योग-दान को यो प्रकट किया है—'उस सन्धिकाल मे जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ था और मैंने छोटी अवस्था मे सघ का उत्तरदायित्व सम्भाला था, यदि वे नही होते तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयो का अनुभव करना होता[1] ?''

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दो मे ही पढिये—"एक दिन वे आये और बोले कि आप कभी-

१ -जैन भारती २८ फरवरी १९६०

कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नही, दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा* ।" यह उस समय की बात है, जबकि आपने शासन-भार सम्भाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघुवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न कर पाये।

मत्रीमुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा था—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओ को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओ को सजोलें। उन्हे जाने न दें*।"

मुनिश्री चम्पालालजी आचार्यश्री के ससार पक्षीय बडे भाई हैं। वे उनकी दीक्षा मे प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्ही की देख-रेख मे रहते रहे थे। उनका नियन्त्रण काफी कठोर होता था; पर जो स्वय अपने नियन्त्रण मे रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। उसे वह कभी भारी नही लगा करता। रात्निक तथा बडे भाई होने के नाते वे सदैव उनका उस समय भी सम्मान करते रहे थे, आज भी करते हैं। स्वभावत वे मिलनसार हैं। आचार्यश्री अपने निर्माण मे उनका भी श्रेयोभाग मानते हैं।

आपके अध्ययन कार्य मे कुछ योग मुनिश्री चोथमलजी का भी रहा था। वे एक सेवाभावी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण तथा कालुकौमुदी आदि के निर्माण मे उनका जीवन खपा था। तेरापथ के भावी छात्रो के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते, पूरी लगन से करते।

आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न, पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापंथ में विद्या-प्रसार के लिए बहुत बडे निमित्त बने हैं। इनसे पूर्व पण्डित घनश्यामदासजी ने भी महत्त्वपूर्ण योग-दान किया था, उन्होंने अपना सहयोग उस समय प्रदान किया था, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के इतना

*जैन भारती २८ फरवरी १९६०

प्रयत्न करने वाले मिलने ही कठिन थे। प० रघुनन्दनजी का महत्त्व इस-लिए है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णत इन्ही के योग से खुला। मुनि श्री चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण किया। इन्होंने उस पर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापथ के मुनि-समाज को सस्कृत-अध्ययन मे स्वाव-लम्बी बना दिया था। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शन-शास्त्र के अ ययन मे इन्ही का योग-दान रहा था।

आगम-ज्ञान अर्जन करने मे आचार्यश्री के मार्ग-दर्शक मुनिश्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमो का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियो को होता है। वे अनेक सन्तो को आगम का अध्ययन कराते रहते थे। समय के बडे पक्के थे। निर्णीत समय से पाँच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें अख-रता था। आगम-रहस्यो की गहराई तक स्वय उनकी तो अबाध गति थी ही, पर वे अपने छात्रो मे भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमो का अध्ययन किया था। वे अपने शेप जीवन तक अपने ही प्रकार से जिये। सेवा लेना उन्होने प्राय कभी पसन्द नही किया। पराश्रयी होकर जीना उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नही किया था। आचार्यश्री की दृष्टि मे उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही, पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे, जो अद्वितीय थे।

हेमराजजी स्वामी का भी आगम-ज्ञान बडा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बडे पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परि-पूर्णता की ओर ले जाने में इनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियो के प्रति विशेप रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले मे जब कभी इन व्यक्तियो मे से किसी का भी प्रसग उपस्थित हो जाता है, तब वे बडे भावुक बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनों और श्रद्धेयो के प्रति उनको अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊंचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

उतराधिकार-समर्पण

स० १९९३ मे आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गगापुर (मेवाड) मे था। वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रान्त हो गया था। फिर भी वे गगापुर पहुँचे। शरीर क्रमश. रोगो से अधिकाधिक घिरता गया। वचने की आशाएँ धूमिल होने लगी। ऐसी स्थिति मे सघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था।

तेरापथ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता मे ही भावी आचार्य का निर्धारण करते हैं। यह उनका सवसे वडा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नही कर पाते तो यह उनके कर्तव्य की अपूर्ति तो होती ही है, परन्तु ऐसी स्थिति सारे सघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। आचार्यश्री माणकगणी के समय एक वार ऐसा हो चुका था। उस समस्या को वडे ही सात्त्विक ढग से सुलझाकर तेरापथ एक विकट परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ था। वैसी परिस्थिति का दुहराया जाना किसी को अभीप्ट नही था। अत. सघ-हितैपी जन ऐसे समय मे विशेप सावधानी वरतते हैं। गुरुदेव का ध्यान इस समस्या की ओर खीचा गया। वे तो स्वय ही इसके लिए सजग थे। उन्होंने उचित समय पर इस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोपणा कर दी।

गुरुदेव ने उसी दिन से आपको एकान्त मे वुलाना प्रारम्भ कर दिया। सघ की सारणा-वारणा-सम्वन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश. दिये। कुछ वातें-

मुखस्थ कही तथा कुछ लिखाई भी। इतने दिन तक जो बातें केवल सकेत के रूप मे ही सामने आती थी, अब वे स्पष्टता से सामने उभर रही थी। जन-जन की कल्पनाओ मे बना हुआ अव्यक्त चित्र अब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओं के रूप मे अभिव्यक्त होने लग रहा था। गुरुदेव जब उन दिनो साधु-साध्वियो को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था मे छोटे होते हैं, किसी समय बडे, फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिए। गुरु जो कुछ करते हैं, वह शासन के हित को ध्यान मे रखकर ही करते हैं।" तब प्राय' सभी जानने लग गये थे कि गुरुदेव का सकेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नही थे। नाम की उद्‌घोषणा नहीं की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्रव शुक्ला तृतीया को सम्पन्न किया गया। प्रात काल का समय था। रंग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नही दी जा सकती थी। उस हॉल मे तो क्या, विशाल पण्डाल मे भी वह नही समा सकती थी। लोग बहुत बडी सख्या मे आये हुए थे। गंगापुर बसने के बाद इतने लोगो का आगमन वहाँ पहले-पहल ही हुआ था। जनता मे अपार उत्सुकता थी। सब कोई युवाचार्य पद प्रदान करने के उत्सव मे सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नही था। स्थितिजन्य विवशता थी। रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पडाल में तो क्या; उस कमरे से बाहर भी नही जा सकते थे। हॉल मे भी अधिक भीड का एकत्रित होना अभीष्ट नही था। इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्यश्री कालूगणी बैठे। युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। फूनते हुए साँस, धूजते हुए हाथ और पीड़ा-व्याकुल प्रत्यग की अवहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पक्तिया लिखी। मोटे-मोटे अक्षर और टेढी-मेढी पक्तियो वाला वह

ऐतिहासिक पत्र कई विश्रामो के वाद पूरा हुआ। उसके वाद आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढकर जनता को सुनाया गया। उसमे लिखा था .

गुरुभ्योनमः
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचन्द
रायचन्द पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम।
विनयवत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।
सम्वत् १९९३ भादवा प्रथम सुदी ३ गुरुवार।

आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्यश्री तुलसी के जयनादो से वातावरण गुंजायमान हो गया। योग्य धर्मनेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो सघ-प्रबन्ध की चिन्ता से मुक्त हुए ही, परन्तु साथ मे सारे सघ को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियो के क्या कर्तव्य होते हैं; यह जानने वाले वहाँ वहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवा-गणी अनेक वर्षो तक युवाचार्य रहे थे। उसके वाद लगभग ५५ वर्षों में कोई ऐसा अवसर आया ही नही। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य पद दिया गया था, पर वह अत्यन्त स्वल्प कालीन था, अतः कर्तव्य-बोध के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ था। उसे देखने वालो मे भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे मन्त्रीमुनि, बस ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो यह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वय गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति कर्तव्यों का बोध-प्रदान किया। शेप सारी बातें मंत्रीमुनि यथासमय वतलाते रहे थे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के बाद उन्ही का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवाकार्यो का भार मुनिश्री दुलीचन्दजी (शार्दूलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप-भाव से कर रहे हैं।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पडी थी, अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने उस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दो मे विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी, वह मेरे मन मे ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। जिस कार्य को मैं छोगाजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की ससार पक्षीया माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढग से करने वाला था, वह मुझे यही पर बिना किसी विशेप आयोजना के करना पड़ा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वश नहीं है।

नये वातावरण में

युवाचार्य वनने के साथ ही आपको नये वातावरण मे प्रवेश करना पडा। वहाँ सव कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना वढ गया था कि आप उससे बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पा रहे थे। जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ मे आप अपने को घिरा-सा महसूस कर रहे थे। जिन रात्निक मुनियो का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सव आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आपकी आँखें झुक जाती थी। तेरापथ सघ की विनय-पद्धति की एकार्णवता ने आपको अप्रत्याशित रूप मे अभिभूत कर लिया था। उन दिनो आप

जिधर से भी जाते; मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने आये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप मे अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जबकि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये; तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरावलोकन या विश्लेषण करते हैं; तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठ कर पहले मन्त्रीमुनि ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। मन्त्रीमुनि तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढकर पट्ट के पास आये; किन्तु सहसा ही ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा मे खडी थी; पर आप बैठ नही पा रहे थे। सम्भवत. आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठें तो कैसे? मन्त्रीमुनि ने देखा तो बढकर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उससे भी काम नही बना तो हाथो के कोमल तथा भक्ति-सभृत दबाव से आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नही थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बडी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्राय. समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नही उठ पाये थे। यह थी नये उत्तरदायित्वो की

झिझक; जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

यह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमे से भी झाँक-झाँक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया; वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्यश्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गये थे। सघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नही हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप मे हम उन्हे केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ पाये होते तो कितना ठीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के ससार मे उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे सघ ने उन चार दिनों मे जो कुछ देखा, पाया उसी को अपनी स्मृति मे सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

: ४ :

तेरापंथ के महान् आचार्य

शासन-सूत्र

तेरापथ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य हैं। उनका निर्माण तेरापथ मे हुआ है, अत उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापथ से परिचित होता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वे तेरापथ से और तेरापंथ उनसे भिन्न नही है। तेरापथ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापथ की शक्ति के केन्द्र हैं। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नही है; यह धर्म-शक्ति है, जो कि विधायक और संयोजक है। तेरापथ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापथ गौरवान्वित हुआ है। जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा, उसे तेरापथ को और जो तेरापथ को गहराई से जानना चाहेगा; उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा। उन्हे एक दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नही जाना जा सकता। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने तेरापथ द्विशताब्दी महोत्सव के अवसर पर अपने वक्तव्य मे कहा था—"मेरी समझ मे तेरापथ की सबसे बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी हैं, जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश मे नैतिक जागरण का शख फूंका[1] है।" उनके इस कथन मे जहाँ आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रति आदर भाव है, वहाँ ऐसे नररत्न का निर्माण करने वाले तेरापथ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार

---

१ जैन भारती २४ जुलाई १९६०

को प्रख्यात करती है; वहाँ उसके निर्माण-सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापंथ के नवम अधिशास्ता हैं। उनके अनुशासन में रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल से थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमे बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दो मे उसका स्वरूप यह है—तेरापथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहाँ बल-प्रयोग का कोई स्थान नही है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा सघ उसका पालन करता है। इनके मध्य मे श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नही है। श्रद्धा और विनय, ये हमारे जीवन के मन्त्र हैं। आज के भौतिक जगत् मे इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है, वह अकारण भी नहीं है। बडो मे छोटों के प्रति वात्सल्य नही है। बड़े लोग छोटे लोगो को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व मे बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नही। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसो मे प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या? जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखता; किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।"[1]

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषय मे तेरापथ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बातों के विषय मे चाहे कुछ भी कहते हो; परन्तु इन विषयो मे तो बहुधा वे तेरापथ की प्रशसा ही

१. जैन भारती २४ जुलाई १९६०

करते पाये गये हैं। तेरापंथ का लक्ष्य है—चारित्र की विशुद्धि। उसका उद्भव इसीलिए हुआ था। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापंथ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विघटन में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-संघ में देखा था; तेरापंथ में उन्होंने उनको पनपने ही नहीं दिया। आचार्यश्री ने तेरापंथ-द्विशताब्दी-महोत्सव पर अपने मंगल-प्रवचन में कहा था—"तेरापंथ की अपनी विशेषता है—आचार का दृढ़ता पूर्वक पालन। आचार्यश्री भिक्षु ने हमारे संविधान का उद्देश्य यही बतलाया—'न्याय मार्ग चालण रो नै चरित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।'

तेरापंथ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है; यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापंथ के उद्भव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था; ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला—देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा, वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं। उन्होंने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

आज तेरापंथ के साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएँ नहीं हैं।

आज तेरापंथ इसलिए संगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

आज तेरापंथ इसलिए शक्ति-सम्पन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन में रहता है और उसका साधु-वर्ग

छोटी-छोटी शाखाओं में बटा हुआ नहीं है।"[1]

तेरापंथ की व्यवस्था बहुत सुदृढ़ है। इसका कारण यह है कि उसमें सबके प्रति न्याय हो, यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व संघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये थे, वे इतने सुदृढ़ प्रमाणित हुए हैं कि आज के समाजवादी सिद्धान्तों का उन्हें एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दों में वह इस प्रकार है—"आचार्यश्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब के सब श्रमिक हैं और सब के सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का सविभाग होता है। सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का सविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं, यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बट जाता है, यदि पीने वाले चार हों तो।"[2] यह संविभाग साधु-साध्वियों के जीवन-व्यवहार में आने वाली प्राय: हर वस्तु पर लागू पड़ता है। 'असविभागी न हु तस्स मोक्खो'[3] अर्थात् सविभाग नहीं करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता, यह आगम-वाक्य तेरापंथ-संघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि "एक के लिए सब और सब के लिए एक" और यह तेरापंथ के लिए बहुलांश में लागू पड़ता है। जननेता श्री जयप्रकाश नारायण जयपुर में जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले, तब तेरापंथ की व्यवस्था को जानकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने कहा—"हम जिस समाजवाद को आज लाना चाहते हैं; वह आपके यहाँ दो शताब्दी पूर्व ही आ चुका है, यह प्रसन्नता की बात है।

---

१ जैन भारती २४ जुलाई १९६०

२ जैन भारती २४ जुलाई १९६०

३. दशवैकालिक ९-२-२३

हम इन्हीं सिद्धान्तों को गृहस्थ जीवन में भी लागू करना चाहते हैं।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्यश्री ने तेरापथ का शासन-भार सं० १९९३ भाद्रव शुक्ला नवमी को सँभाला था। उस समय संघ में १३९ साधु और ३३३ साध्वियां थी। उनमें से ७८ साधु तो आपसे दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। छोटी अवस्था, बड़ा संघ और उन सब पर समान अनुशासन की समस्या थी। उस समय भी आचार्यश्री का धैर्य विचलित नहीं हुआ। उन्हें जहाँ अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ संघ के साधु-साध्वियों की नीतिमत्ता और अनुशासन-प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नहीं था। नवमी के मध्याह्न में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम वक्तव्य दिया था, उसमें ये दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गये थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यों है—

"श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वयं खिन्न हूं। साधु-साध्वियां भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है। उसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने? इस बात को विस्मृत ही बना देना है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अपना संघ नीति-प्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियां नीतिमान् हैं, रीति-मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हे कन्धों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। संघ के साधु-साध्वियां बड़े विनीत, अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं, इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। शासन की नियमावलि को सब साधु-साध्वियां पहले की ही तरह हृदय से पालन करते रहे। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूँगा, ऐसा मेरा दृढ संकल्प है। इसके साथ मैं सबको सावधान भी कर देना

चाहता हूँ कि मर्यादा की उपेक्षा मैं सहन नही करूँगा।

सब तेरापथ सघ मे फले-फूलें सयम मे दृढ़ रहे, इसी मे सबका कल्याण है, सघ की उन्नति है। यह सबका सघ है, इसलिए सभी इसकी उन्नति मे प्रयत्नशील रहे।"

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर सघ का भार देकर आचार्यश्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया था, आचार्यश्री ने अपने कर्तृत्व से उसमे किसी प्रकार की लाछना नहीं आने दी। वे उस अवस्था मे भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ मे जो लोग यह आशका करते कि अवस्था बहुत छोटी है, उन्हे मुनिश्री मगनलालजी कहा करते कौन कहता है—आचार्यश्री की अवस्था छोटी है ? आप तो बयासी वर्ष के हैं। वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते कि जन्म के वर्षों से ही अवस्था नही होती, वह अनुभवो की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा मे आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं, किन्तु अनुभवो की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बडी है। आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे, वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गये हैं, अत अनुभवो की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं। मन्त्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण मे एक प्रगाढता और गौरव ला दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापथ का शासन-सूत्र सँभालते ही आचार्यश्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था—सघ का सुचारु रूप से सचालन। सघ-सचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है, किन्तु आचार्यश्री ने उसमे सहज ही सफलता पा ली। वे अपने कार्य मे पूर्ण जागरूक रहकर बढे। अनुशासन करने की कला मे यों तो वे पहले से ही निपुण थे; पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होंने अपने प्रथम वर्ष मे ही जिस प्रकार से सघ-व्यवस्था को सँभाला, वह श्लाघनीय ही

नही, अनुकरणीय भी था। उन्होंने साधु-सघ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियो को यह आशंका थी कि एक वाईस वर्षीय आचार्य के अनुशासन मे सघ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेंगे, उनकी वह आशका शीघ्र ही निर्मूल सिद्ध हो गई।

तेरापथ मे समूचे साधु संघ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेपकालीन विहरण के क्षेत्रो का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते हैं। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो तो असन्तोप का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिंघाडे की पारस्परिक प्रकृतियो का सन्तुलन भी बिठाना पडता है। पिछले वर्ष मे किये गये समस्त कार्यो का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। शासन-उन्नति के विशिप्ट कार्यो की प्रशसा और खामियों का दोप-निवारण भी एक बहुत बड़ा कार्य है। रुग्ण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेप निर्धारण करना पड़ता है। वृद्ध-जनों की सेवा और उनकी चित्त समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब-कुछ करने के बाद शेप सिंघाड़ो के लिए आगामी वर्प का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विपय मे भी पूछताछ तथा दिशा-निर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने मे जितने लघु हैं, करने मे उतने ही बडे और जटिल हैं। जो आचार्य इन सबमे अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनो की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है, वही सघ का सुचारु-रूप मे सचालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यो का व्य-वस्थित सचालन ही नही किया, अपितु इनमे नये प्राणो का संचारण भी किया।

असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गए अनेक विकास कार्यो मे प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजो के समान तेरापथ भी एक सीमित दायरे मे ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमे भी प्राय वैसी थी,

जैसी कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय मे हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोडा। सम्प्रदाय शब्द का मूल अर्थ होता है—गुरु-परम्परा। वह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है, जब असहिष्णुता के भाव आते हैं। वृक्ष का मूल एक होता है, पर शाखाओ, प्रशाखाओ तथा टहनियो के रूप मे उसकी अनेकता मे भी कोई कमी नही होती, फिर भी उनमे कोई असहिष्णुता नही होती, अत. वे परस्पर एक-दूसरे की शक्ति और शोभा बढाती हैं। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, सगठन, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब आज कैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है ? अपने सामूहिक जीवन की कोई-न-कोई परम्परा अवश्य ही विरासत मे हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नही रहने चाहिएँ' यह कहने वाले भी तो अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही कहते है। आचार्यश्री की दृष्टि मे असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य मे पर-मत-सहिष्णुता रहती रहेगी, तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नहीं हो सकेगा। असहिष्णुता ही मत-भेद को मन-भेद मे बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय मे रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायेगा।

इस चिन्तन-विकास ने तेरापथ को वह उदारता प्रदान की है, जो कि पहले की अपेक्षा बहुत बडी है। इससे इतर सम्प्रदायों के साथ तेरापथ के सम्बन्ध मधुर हुए हैं, दूरी कम हुई है। आचार्यश्री के प्रति सभी सम्प्रदाय वालो के मन मे आदर-भाव बढा है।

वे एक सम्प्रदाय के आचार्य है। उसकी सारणा-वारणा करना उनका कर्तव्य है। वे उसे बड़ी उत्तमता से निभाते हैं। फिर भी सम्प्रदाय उनके लिए बन्धन नही, साधना क्षेत्र है। वे एक वृक्ष की तरह हैं; जिसका मूल निश्चित स्थान पर रुपा हुआ होता है, पर उसकी छाया और फल सबके लिए समान रूप से लाभदायक होते हैं।

पांच सूत्र

आचार्यश्री के चिन्तन तथा कार्यकलापो का रुझान समन्वय की ओर ही रहा है। उन्होने समय-समय पर सभी सम्प्रदायो से सहिष्णु बनने और परस्पर मैत्री रखने का अनुरोध किया है। इसके लिए उन्होने एक पचसूत्री योजना भी प्रस्तुत की थी। सभी सम्प्रदायो के लिए वे सूत्र मननीय हैं—

१. मडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाएँ।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३ दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४ कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५ धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

धर्म सम्प्रदायो मे परस्पर सहिष्णुता का भाव पैदा करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नही, क्योंकि उनमे मूलत ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वो की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिकों के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक-दूसरे पर आक्षेप करें, घृणा फैलायें और असहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारो की असहिष्णुता मिट जाए तो विभिन्न सम्प्रदायो के रहते हुए भी सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारो के आधार पर ही उन्हें एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हे भारत के एक महान् सन्त के रूप मे जानने लगी है।

समय नहीं है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारो का केवल दूसरो के लिए ही निर्यात नही करते, वे स्वय इन सिद्धान्तो पर चलते हैं। वे किसी की व्यक्तिगत अलोचना करना तो पसन्द करते ही नही, पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हे पसन्द नही है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय मागा। आचार्यश्री ने उन्हे दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारो से असन्तुष्ट थे, अत उनकी कमियो का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमे कुछ रस लेते तो वे तेरापथ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियो का पता दे सकते थे, परन्तु उन्हे यह अभीष्ट ही नही था। उन्होने उस साधु से कहा—मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व विषयक चर्चा करना चाहते हैं, इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नही है। इस विषय मे मैं आपकी कोई सहायता भी नही कर सकता। उसी क्षण बात-चीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम मे लग गये।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारो का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते है। वे इसमे कोई कार्पण्य या सकोच नही करते। वे अन्य सम्प्रदायो के धार्मिक स्थानो पर भी निस्सकोच-भाव से जाते हैं। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायो के स्थानो मे जाना अपना अपमान समझते हैं, वहाँ आचार्यश्री बडी रुचि के साथ जाते हैं। वे जानते है कि दूर रहकर दूरी को नही मिटाया जा सकता। सम्पर्क मे आने पर वह दूरी भी मिट जाती है, जिसे कभी न मिटने वाली समझा जाता है। वे अनेक वार दिगम्बर और श्वेताम्बर मदिरो मे जाते रहे हैं। अनेक वार वहाँ उन्होने प्रार्थनाएँ भी की है। मूर्तिपूजा मे उन्हें विश्वास नही है, पर वे मानते हैं कि जव अन्य सभी स्थानो मे भावपूजा

की जा सकती है तो वह मदिर मे भी की जा सकती है। आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगो को सहजतया आकृष्ट कर लेते हैं। उनकी यह उदारता इस या उस किसी एक पक्ष को आधार रखकर नही होती, किन्तु सार्वत्रिक होती है। वस्तुत उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं।

आगरा के स्थानक में

उत्तर-प्रदेश की यात्रा मे आचार्यश्री आगरा पधारे। धर्मशाला मे ठहरना था। मार्ग मे जैन-स्थानक आया। वहाँ ससद-सदस्य सेठ 'अचलसिहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावको ने आगे खडे होकर प्रार्थना की—"यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं। आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिए।" यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था, फिर भी इस समन्वय के क्षण को आचार्यश्री ने छोडा नही। साधुओ सहित अन्दर पधार गये। इतने मे कविजी भी ऊपर से आ गये। वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। स्थानकवासी समाज मे अच्छी प्रतिष्ठा है। 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आते ही बडी उल्लासपूर्ण मुद्रा मे कहने लगे—"मैं नही जानता था कि आप अन्दर आ जायेंगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष मे जो बातें सुनी थीं, उससे भी कही अधिक महत्ता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है।" फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श मे इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नही थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की 'अहिंसा-दर्शन' नामक पुस्तक मे कई जगह तेरापथ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसग मे आचार्यश्री ने उन स्थलो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिश्री नथमलजी उन स्थलो को खोजने लगे, पर वे मिले नही। उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा—"यह दूसरा सस्करण है। इसमे आप जो खोज रहे हैं, वह नहीं मिलेगा।" आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वय लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से

उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर समाज के बहुमान्य गणेशप्रसादजी वर्णी के यहां भी आचार्यश्री पधारे थे। पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है। वे वहां एक आश्रम में रहते थे। आचार्यश्री विहार करते हुए वहां पधारे तो आश्रम में भी पधारे। आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापथ के विषय में बड़ी गुणग्राहकता और उदारता भरी वाणी में कहा—"आपका धर्म-संघ बहुत ही संगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-संघ में दिखाई नहीं देती।" इस प्रकार के स्वल्प-कालीन मिलन भी सौहार्द-वृद्धि में बड़े उपयोगी होते हैं। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक; किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखाई देने वाली बातें ही आचार्यश्री की महत्ता के पट में ताना और बाना बनी हुई हैं।

विजयवल्लभ सूरि के यहां

बम्बई में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहां भी आचार्यश्री पधारे थे। वहां भी बड़े उल्लास-मय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहां के मूर्तिपूजक जैन-समाज पर तो गहरा असर हुआ ही था, पर बाहर भी उस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएं हुईं।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनों के धर्म-स्थानों या जैनधर्माचार्यों के यहीं जाते हों, सो बात नहीं है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहां उसी सहजभाव से चले जाते हैं, मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक बार वहां की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गये। वहां के संरक्षक ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। नंगे सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री

तत्काल वापिस मुड गये। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापिस मुड जाने ने उनको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा—"आप तो स्वय पहुँचे हुए व्यक्ति हैं, अत आप पर इन नियमों को लागू करना कोई आवश्यक नहीं है। आप मजे से अन्दर जाइये और देखिये।" जिस सौम्यभाव से वे वापिस मुड़े थे, उसी सौम्यभाव से फिर दरगाह की ओर मुड गये। अन्दर जाकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातन मदिर, आर्यसमाज मदिर, चर्च आदि मे भी इसी प्रकार की निर्द्वन्द्वता के साथ जाते रहे हैं। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

श्रावकों का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारों का अन्य सम्प्रदाय वालों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति मे स्वय तेरापथी-समाज पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था। वस्तुत. वह पड़ा भी है। कहीं अधिक तो कहीं कम, प्राय सर्वत्र वह देखा जा सकता है। तेरापथ-समाज को प्राय. बहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमे एतद्विषयक परिवर्तन को एक आश्चर्यजनक घटना के रूप मे ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना मे कमी और सहिष्णुता की भावना मे वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापथी भाई मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ने सविग्न सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चोपाटी के अपने मकान फूलचन्द-निवास मे सात दिन उन्हें भक्ति बहुमान सहित ठहराया। तेरापथ-समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी करवाया गया। आचार्यजी ने उस भाषण मे बड़े मार्मिक शब्दो मे जैन-एकता की आवश्यकता बतलाई[1]। इस घटना के विषय मे भाई परमानन्द ने लिखा है—"एक सम्प्रदाय के श्रावक-जन

१. प्रबुद्ध जीवन १ मई '५३

अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें, व्याख्यान दें, ऐसी घटना पहले तो कभी कोई भाग्य से ही घटित हुई हो तो हो। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने में तेरापंथी समाज निमित्त बना है, अत वह धन्यवाद का पात्र है[1]।"

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनो बम्बई मे थे। कुछ तेरापंथी भाई वहाँ के इडियन-नेशनल चर्च मे गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगो के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एस० विलियम्स पर बडा ही रुचिकर प्रभाव पडा। उनके मन मे यह भावना उठी, जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हे दूसरे धर्म का उपदेश सुनने मे कोई एतराज नही है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा ? इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया। वे किसी गद्दीधारी महन्त की कल्पना करते हुए आये थे, पर वहाँ की सारी स्थितियो को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशो का सच्चा पालन यही होता है। वे अत्यन्त प्रभावित हुए। एक धर्मगुरु होते हुए भी उन्होने अणुव्रत स्वीकार किये। अधिकाश अणुव्रत-अधिवेशनो मे वे सम्मिलित होते रहे हैं। आचार्यश्री के प्रति उनकी बडी उत्कट निष्ठा है।

साधु सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्दपूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है। भीनासर मे एक साधु-सम्मेलन हुआ था। उसमे अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है। उससे बिल्कुल सटा हुआ ही गंगाशहर है। वह उससे कई गुना बडा है। वहाँ तेरापथ के लगभग नौ सौ परिवार रहते हैं। उन्होने उस सम्मेलन मे हर प्रकार का सम्भव

१ प्रबुद्ध जीवन १ मई '५३

सहयोग प्रदान किया था। यह सहयोग केवल भाईचारे के नाते ही था और उससे दोनो समाजो मे काफी निकटता का वातावरण बना।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई। उनका जब बीकानेर मे जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापथ-समाज की ओर से उन्हे माला पहनाई गई तथा सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की गई। इस घटना ने उन लोगो को और भी अधिक प्रभावित किया।

इन सब घटनाओ का अपना एक मूल्य है। ये तेरापथ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाएँ हैं। इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारो का बल है। तेरापथ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओ से अनुप्राणित हो चुके हो, ऐसी बात नही है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी है, जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापथ को लाभ नही; अलाभ ही पहुँचा रहे हैं। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियो से श्रावकों की एकनिष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारो को यह समाधान देते हैं कि तेरापथ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापथ है और जहाँ सत्य नही है, वहाँ तेरापथ भी नही है, यह व्याप्ति है। समन्वय-वादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अतः वे सत् और आदेय होते हैं। कदाग्रहवादिता और अवगुणग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते है, अत वे असत् और हेय होते हैं। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापथ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापथ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो, तो वह वास्तविक तेरापथ तक पहुँचा ही नही है। सम्प्रदाय के रूप मे तेरापथ एक मार्ग है। उस पर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है; साध्य नही।

चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएँ

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसी के द्वारा 'नई चेतना के प्रहरी' करार दिये जाते हैं तो किसी के द्वारा 'पुराणपंथी'। वे बिलकुल गलत भी नहीं हैं, क्योंकि आचार्यश्री को नवीनता से भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनों पैर हैं। एक उठा हुआ तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उड़ना नहीं चाहते तो दोनों पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नहीं चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते हैं, निरन्तर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो तो कुछ टिका हुआ भी हो। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पड़ता रहे। साधारणतया लोग नई बात से कतराते हैं और पुरानी से चिमटते हैं। पुरानी के प्रति विश्वास और नई के प्रति अविश्वास, उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगों से सर्वथा पृथक् हैं। वे प्राचीनता की भूमिका पर खड़े होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नहीं हिचकिचाते। वस्तुत वे प्राचीनता और नवीनता को जोड़ने वाला उपादेयता का ऐसा सेतु-बन्ध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनों तटों में सहज ही सामजस्य स्थापित हो जाता है। उनकी इस वृत्ति को स्वय तेरापथ-समाज के कुछ व्यक्तियों ने सशक दृष्टि से देखा है। वृद्धों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं, न जाने समाज को कहाँ ले जायेंगे। युवक कहते हैं कि वे पुराणता को साथ लिए चलते हैं, इस प्रकार कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों की रगड़ से जिस प्रकार ऊष्मा पैदा होती है; उसी प्रकार दो विचारो के संघर्ष में नव चिन्तन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने उनके मार्ग मे जहाँ बाधाएं उत्पन्न की हैं; वहाँ अनेक बार उन्हें लाभान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विशेषज्ञ हैं, वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आँकते ही हैं; पर कभी-कभी उसके विरोध में किये जाने वाले प्रचार को देख-सुनकर परोक्ष-रूप से भी आँक लेते हैं। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा बम्बई के समाचार-पत्रो में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क मे आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है, वह वस्तुतः कितना चैतन्य-युक्त होगा। काका कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले तो बतलाया कि मैं तेरा-पंथ के विरोध में बहुत कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है, वहाँ अवश्य चैतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नही करता।

विरोधी-साहित्य प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध-भाव रखने वालों में अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो उनके चैतन्य को—उनके सामर्थ्य को सहन नही कर पा रहे हैं। वे अपनी शक्ति से उस 'सर्वजन-हिताय' बिखरे चैतन्य को बटोरने के बजाय आवृत्त कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध मे नाना प्रकार के अपवाद फैलाते हैं, उनके विरुद्ध पुस्तकें लिखते तथा छपाते हैं। जहाँ अवसर मिले; वहाँ इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वाता-वरण बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नही कर पाये हैं। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है; भविष्य में वह उतना ही नहीं रहेगा; उसमें और निखार आयेगा। उनके चैतन्य का, सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा, यही एक मात्र सम्भावना की जा सकती है। यदि कुछ लोग ऐसा सोचते

हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी; तो वे भूल करते हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयासो के फलित देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने एक वार हरिजन मे अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापथ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है; तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना श्री उ० न० ढेवर के साथ भी घटी। वे उन दिनो सौराष्ट्र के मुख्यमत्री थे। आचार्यश्री वम्बई यात्रा के मध्य अहमदावाद पधारे। वहाँ वे आचार्यश्री के सम्पर्क मे पहले-पहल ही आये। उन्होंने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमो की वहाँ वडी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे दिन वे फिर आये और वातचीत के सिलसिले मे अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमे किसी प्रकार का वड़ा हेर-फेर कर पाना सम्भव नही रह गया था, अतः वह वात स्वीकृत नही हो सकी।

कुछ समय वाद ढेवर भाई काग्रेस-अध्यक्ष वनकर दिल्ली मे रहने लगे। उन दिनो मैं भी दिल्ली मे ही था। मिलन हुआ तो वातचीत के सिलसिले मे उन्होने मुझे यह सारी घटना सुनाई और कहा कि जब से मेरे निमन्त्रण देने के समाचार पत्रो मे प्रकाशित हुए हैं, तभी से मेरे

पास आचार्यश्री के विषय मे विरोधी साहित्य इतनी मात्रा मे पहुँचने लगा है कि मैं चकित रह गया हूँ ।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ? तब वे कहने लगे—"मैं सोचता हूँ कि हर एक अच्छे कार्य के प्रारम्भ मे बहुधा ऐसा होता ही है । ऐसा हुए बिना कार्य मे चमक नही आती ।"

व्यक्तिगत पत्र

अभी तेरापथ-द्विशताब्दी के अवसर पर साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रो मे तेरापथ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय मे अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियो को वे अखरे। उन्होने सम्पादको के पास काफी मात्रा मे विरोधी साहित्य तथा सम्पादको को कर्तव्य-बोध देने वाले व्यक्तिगत पत्र भी भेजे । ऐसा ही एक पत्र सयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँकेबिहारी भटनागर के नाम था । उसमे आचार्यश्री, तेरापथ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था । परन्तु उसका असर क्या होना था ? उस पत्र के कुछ दिन बाद ही स्वय श्री भटनागरजी का एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान मे प्रकाशित हुआ, जिसमे आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाएँ अनेक हैं और होती रहती है, पर जो आचार्यश्री के कार्यों से प्रभावित होते हैं, उनकी सख्या के सामने ये नगण्य-सी हैं । जहाँ गति होती है, वहाँ का वायुमडल उसका विरोधी बनता ही आया है । गति मे जितनी त्वरा होती है, वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है, पर क्या कभी गति की प्राण-शक्ति क्षीण हुई है ?

समय ही कहाँ है ?

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपो के प्रति कोई विशेष ध्यान नही देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापथ मे प्राय' पहले से ही परिपाटी नही रही है । यह ठीक भी है । कार्य करने वाले के पास विरोध और झगडा करने का समय ही कहाँ रह पाता है ? वे

इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते है कि जो व्यक्ति निठल्ला रह कर या कलह आदि मे समय व्यतीत करता है; उसका वह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता ? उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव-जाति के लिए एक नव आशा का सचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र-कुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—"तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहाँ कुछ है। जीवन मूर्छित और परास्त नही है। उसमे आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व मे सजीवता है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता; यद्यपि हठवादिता नही। वातावरण के प्रति उनमे ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियो और सम्प्रदायों के प्रति सवेदनशीलता। एक अपराजेय वृत्ति उनमे पाई, जो परिस्थिति की ओर से अपने मे शैथिल्य लेने को तैयार नही है, बल्कि अपने आस्था-सकल्प के बल पर उन्हे बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के साथ इस सपराक्रम सिंहवृत्ति का योग अधिक नही मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही जब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय ही मन मे आशा उत्पन्न होती है।"[1]

मेरी हार मान सकते हैं

कभी उन्हें धार्मिक वाद-विवादो तथा जय-पराजयो में रस रहा हो तो रहा हो, पर अब तो वे इसे पसन्द नही करते। वाद-विवाद प्राय. जय-पराजय के भाव उत्पन्न करता है और तत्त्व-चिन्तन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगों की ओर ले जाता है। पुराने युग मे शास्त्रार्थों मे बडा रस लिया जाता था, पर अब उन्हे वैमनस्य बढाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे उसे पसन्द नही करते। यथा-सम्भव ऐसे अवसरो से वे बचना ही चाहते हैं, जिनसे कि विवाद बढने की सम्भावना हो। एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया।

---

१. आचार्यश्री तुलसी पृ० ग-घ

आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय मे जो मेरा विचार है वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये। वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नही आये थे; जितने कि वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होंने कहा—"ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है।" आचार्यश्री ने सौम्य-भाव रखते हुए कहा—"आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चिन्तता से मेरी हार मान सकते हैं। मुझे इसमे कोई आपत्ति नही है।" यह बात किसी ने मुझे सुनाई थी; तब मुझे गान्धीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गाधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम-धर्म जब शास्त्र-सम्मत है, तब हरिजनो को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है? गान्धीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ मे कोई रस नही था। उन्होंने उस बात को वही समाप्त कर देने के भाव से कहा—"मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनो के विषय मे मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं।" गाधीजी ने बड़े सहज भाव से हार मान ली; तब उन लोगो के पास आगे कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। वे जब उठकर जाने लगे तो गाधीजी ने कहा—"हरिजन-फंड में कुछ चदा तो देते जाइये।" पण्डित-वर्ग उनकी बात को टाल न सका। उन्होंने चन्दा लिया और अपने काम मे लगे। विवाद से बचकर काम मे लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापथ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओं तथा विरोधो का कोई उत्तर नही दिया जाना चाहिए। विरोध से विरोध का उपशमन नही हो सकता। उससे तो उसमे और अधिक तेजी आती है। विरोधो का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य मे आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त

के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना मे समय वरवाद करते होते हैं, तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य निष्पादन करते होते हैं। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने मे वे अपना तनिक भी समय लगाना नही चाहते।

वम्वई मे आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी लोग समाचार-पत्रो मे उनके विरुद्ध धुआधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाएँ किनकी थी, यह कहने से अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यो किया जा सकता है कि वह दूसरो की भी हो सकती हैं और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नही थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रो मे जव लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे; तो दूसरे पत्र भी उससे प्रभावित हुए विना नही रहते। या तो वे उसी राग मे आलापने लगते हैं; या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा मे लगते हैं। वही के एक पत्र 'वम्वई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारो से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। वातचीत की तो पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है; वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने वडे आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जव इतना विरोधी प्रचार हो रहा है, तव आप उसका उत्तर क्यो नही देते ?

आचार्यश्री ने कहा—हम यहाँ जो काम कर रहे हैं; वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने मे हमे कोई विश्वास नही है। वस्तुत आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को—सामर्थ्य को कार्य मे खपा देना चाहते हैं। उसका एक कण भी वे निरर्थक वातो मे अपव्यय करना नही चाहते। विरोध है और रहेगा, कार्य भी है और रहेगा; परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन वहुत वडा होता है। अतः शेष मे विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तव उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सवकी समझ मे आयेगी। उससे पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नही।

सर्वाङ्गीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

सघ के सर्वांगीण-विकास के सम्बन्ध मे आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके अनुशासन मे तेरापथ ने नई करवट ली है। युग-चेतना की गगा को सघ मे बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बड़ा तथा श्रम-साध्य है, पर लाभ भी उतनी ही बड़ी मात्रा मे है। जिन्होंने प्रारम्भ मे उनकी इस तपस्या का मूल्य नही आँका था, वे आज आँकने लगे हैं। जो आज भी नही आक पाये हैं, वे उसे कल अवश्य आकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासों ने तेरापथ को ही नही, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

तेरापंथ का व्याख्या-विकास

जैनधर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय मे इसका प्रभाव सारे भारत मे व्याप्त था, परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुडता और सूखता चला जा रहा है। पता नही कौन-सा वर्षा-काल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह अनेक शाखाओ मे विभक्त है। मुख्य शाखाएँ दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग हैं—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापथ। इन सब मे तेरापथ अपेक्षाकृत नया है। वि० सं० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा को इसकी आयु दो सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। तीसरी शती का यह दूसरा वर्ष चल रहा है। एक धर्म सघ के लिए दो सौ वर्ष कोई लम्बा समय नही होता। तेरापथ की प्रथम शती तो बहुलाश मे सघर्ष-प्रधान ही रही। हर क्षेत्र मे उसे प्रबल सघर्षों मे से गुजरना पड़ा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओ का सामना करना पड़ा। द्वितीय शती के दो चतुर्थांशो मे साधारण गति ही होती रही। उसमे कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नही था। तृतीय चतुर्थांश मे

प्रविष्ट होते ही उसमे कुछ विलक्षणताएँ कुलबुलाने लगी। प्रवाह और वेग भी दृग्गोचर होने लगे, हालाकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था मे थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुत. प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा का पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व मे ही बीता है। वे उसका सर्वांगीण विकास करने मे जुटे हुए हैं।

आचार्यश्री ने तेरापथ की व्याख्या मे भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापथ की व्याख्या की थी—"हे प्रभो ! तेरा पंथ।" आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा—"हे मनुष्य ! तेरा पथ।" दोनो वाक्यो का सम्मिलित अर्थ यो किया जा सकता है कि जो प्रभु का पथ है; वही मनुष्य का भी पथ है। प्रभु को पंथ की आवश्यकता नहीं है; वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु-मार्ग के दो छोरो पर हैं। एक छोर मंजिल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण हैं, मनुष्य को पूर्ण होना है, मंजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुँच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो, पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या मे धर्म की स्थिति विश्लिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या मे गति। स्थिति और गति, दोनो ही परस्पर सापेक्ष भाव हैं। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता पद मे उपर्युक्त दोनों अर्थो का समावेश इस तरह किया है।

हे प्रभो ! यह तेरापंथ,
मानव मानव का यह पंथ,
जो बने इसके पथिक,
सच्चे पथिक कहलाएंगे ॥

युग धर्म के रूप में

बहुत वर्षो तक तेरापथ का परिचय प्राय. राजस्थान से ही रहा था। इससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था।

राजस्थान मे भी कुछ निश्चित वर्ग के लोगो तक ही इसकी परिधि सीमित रही थी। उस समय जन-साधारण मे तेरापथ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारो मे उसके प्रसार की योजनाएँ थी। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम धर्म को किन्ही सीमाओ मे जकड़ कर रखना गलत है। वह हर व्यक्ति का है, जो करे उसी का है। उन्होंने 'अमर गान' मे अपने इन विचारो को यों गूंथा है :

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पांति का भेद मिटाया,
निर्धन धनिक न अन्तर पाया,
जिसने धारा; जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नही, किया भी है। वे ग्रामीण किसानो से लेकर शहरी व्यापारियो मे और हरिजनो से लेकर राष्ट्र के कर्णधारो तक मे धर्म के सस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि मे धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापथ है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिसा और अहिसा की जिन सीमा-रेखाओ को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्त्व उस युग मे उतना नहीं आका जा सका, जितना कि आज आका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप मे परिणत हो रहे हैं। हिसा और अहिसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री वी० पी० सिन्हा ने कहा—"उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिसा मे यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना मे और सिद्धान्त मे अहिसा को कही खण्डित नही होने दिया। बहुत बार लोग अहिसा को तोड-मरोड़ कर परिस्थितियो के साथ उसकी संगति बिठाते हैं, पर यह ठीक नही।

अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नही पहुँच पा रहे हैं तो हमे अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नही हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नही सकती[1]।"

विरोध और उत्तर का स्तर

तेरापथ के मन्तव्यो को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहापोह रहा है। उनकी गहराई को बहुत छिछलेपन से लिया गया, अत. बहुधा उनका परिहास किया जाता रहा है। जैन के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शकराचार्य और धर्मकीर्ति जैसे उद्भट विद्वानो ने जिस प्रकार अपने व्यगो का विषय बनाया और कहा कि स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह सिद्ध होगा कि 'ऊँट ऊंट भी है और दही भी' परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगता है ? ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर की उल्टी-सीधी तर्कों के आधार पर तेरापथ के मन्तव्यो पर भी व्यग किये जाते रहे हैं। विरोधियो को तेरापथ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो अबाधगति से मिलता रहा है, क्योकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापथ मे नही रही। फलस्वरूप तेरापथ के मन्तव्यो को विकृत रूप से प्रस्तुत करने वाला साहित्य जनता और विद्वानो तक प्रचुरमात्रा मे पहुँचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिलकुल नही पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इन्कार नही किया जा सकता कि उत्तर देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई समाधान-कारक साहित्य लिखा भी नही गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यो के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी-साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री-जैसे क्रान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे ? उनके विचारो मे मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना

१ जैन भारती २४ जुलाई १९६० (तेरापंथ-द्विशताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य)

किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ? आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है ? इस विचार-मन्थन मे से जो नव-नीत के रूप मे निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओ का उसी स्तर पर उत्तर देना चाहिए। उससे विवाद वढने की वजाय तत्त्व-वोध होने की ही अधिक सम्भावना है। "वादे-वादे जायते तत्त्व-वोध" यह वात इसी आशय को पुष्ट करने वाली है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओ के उत्तर दिये जाने लगे, जो कि द्वेष-मूलक न होकर तत्त्व-चिन्ता-मूलक होती थी। इसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि यह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

निरूपण शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापथ के मन्तव्यो को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य वनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्-विपयक साहित्य लिखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यो की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची तो उसका स्वागत हुआ। फलत. आलोचनाओ का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता ने जहाँ अनेक व्यक्तियो को तत्त्व-लाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टिकोण को यथार्थता से नही आँक सके। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारो को वदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तो का यथावत् प्रतिपादन करने मे उन्हे भय लगने लगा है। परन्तु ये सव निर्मूल वातें हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जहाँ आचार्यश्री ने विद्वत् सभाओं मे तेरापंथ के मन्तव्यो का वडी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसी के भी सामने यथार्थ रूप मे ही निरूपित करना चाहिए, उसे छिपाना वहुत वडी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण मे जितनी निर्भीकता की आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत साधना

जैनाचार्य भापा के विपय मे वडे उदार रहे हैं। वे जब जिस स्थान पर रहे, तब वही की भापा को उन्होंने अपनी भापा बनाया और उसके साहित्य-भडार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उन तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नही हो सकता। उन्होंने भारत के प्राय हर प्रान्त के साहित्यार्चन मे अपना योग-दान दिया है। अर्ध-मागधी, अपभ्रश, गुजराती, महाराष्ट्री, तेलगू, तमिल, कन्नड आदि भापाओ मे तो उन्होंने इतना लिखा है कि ये भापाएँ जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नही हो सकती। क्षेत्रीय भापाओ मे तो उन्होंने लिखा ही, परन्तु जब सस्कृत का प्रभाव बढा तब उसमे भी वे पीछे नही रहे। प्राय हर विपय पर उन्होने अधिकारी ग्रन्थ लिखे। वह एक प्रवाह था। खूब बहा, बहता रहा, पर पीछे धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायो मे तो उसके रुकने की सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भापाओं का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप से होता रहा।

तेरापथ का प्रवर्तन ऐसे समय मे हुआ, जब कि सस्कृत का कोई वातावरण नही था! आगमो का अध्ययन खूब चलता था, पर सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापथ की प्रथम शती केवल राजस्थानी साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही थी। यह उचित भी था, क्योंकि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उनका लक्ष्य था। दूसरी भापा यहाँ इतनी सफलता नही पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापथ मे सस्कृत का बीज-वपन किया। एक सस्कृत-विद्यार्थी को उन्होने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनो को विद्या देना नही चाहते थे। उनकी दृष्टि मे वह साँप को दूध पिलाने जैसा था। उनके शिष्य श्रीमघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को जरा आगे बढाया, परन्तु वह पनप नही सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

सप्तमाचार्यश्री डालगणी के समय बीदासर के जागीरदार ठाकुर हुकमसिहजी ने उनके पास एक श्लोक भेजा और अर्थ पूछा। परन्तु उनकी जिज्ञासा को कोई भी साधु तृप्ति नही दे सका। यह स्थिति भावी आचार्यश्री कालूगणी को बहुत चुभी। उन्होंने अपने मन ही मन व्याकरण पढने का सकल्प किया। चाह को राह भी मिली। पण्डित घनश्यामदासजी ने सहयोग दिया। आचार्यपद का उत्तरदायित्व सँभालने के वाद भी एक बालक की तरह अहर्निश रटते रह कर उन्होंने सस्कृत का अध्ययन किया। एक सकल्प पूरा हुआ; पर अब उनके सामने शिष्यवर्ग के अध्ययन की समस्या खडी थी। पण्डित घनश्यामदासजी रूप-पण्डित थे; प्रयोग का कोई अभ्यास नही था। आचार्यश्री कालूगणी का प्रयोग-पाण्डित्य उनकी अपनी सकल्प-शक्ति का परिणाम ही अधिक था।

दूसरे पण्डित मिले रघुनन्दनजी शर्मा। वे आयुर्वेदाचार्य और आशुकविरत्न थे। उनके विनीत और सरल सहयोग ने कई साधुओ को व्याकरण मे पारगत बना दिया। फलस्वरूप मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महाव्याकरण का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति स्वय प० रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अगोपाग भी बना लिए गये। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म-निर्भर तो अवश्य वन गये; पर विषय-विस्तार नही हो सका। साहित्य-निर्माण की शक्ति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण-ज्ञान की गलियो मे घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है, वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-काल मे दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था, पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के बाद ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओ का विशेष सामना नहीं करना पड़ा। उसमें आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी, साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो गया था। परन्तु हम लोगो को दर्शन के जंगल मे बिलकुल बिना मार्ग

के चलना पडा था । सयोग ही कहना चाहिए कि उसमे भटकते-भटकते जव सहज ही वाहर आये तो अपने को मजिल के पास ही पाया । हम लोगो के वाद के विद्यार्थियो को अन्य अनेक असुविधाएँ या वाधाएँ भले ही देखनी पडी हो, परन्तु अध्ययन-सम्वन्धी असुविधाएँ प्राय समाप्त हो गई थी ।

यह तेरापंथ मे सस्कृत-भापा के विकास की सक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने मे आचार्यश्री का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है । आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति वहुत मन्द थी । दीक्षा के वाद कुछ त्वरा आई । उसमे आपका प्रयास भी साथ था । आचार्य वनने के वाद उसमे पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णत आपको ही दिया जा सकता है । आपने अपने वुद्धि-कौशल से न केवल अपने शिष्य-वर्ग को सस्कृत भापा का ही अधिकारी विद्वान् वनाया है, अपितु उसको प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् वनाने मे प्रयत्न चालू रखा है । इससे दर्शन तथा साहित्य विपयक निर्माण को वहुत प्रोत्साहन मिला । स्वय आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्यवर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण कर सस्कृत वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे हैं ।

हिन्दी में प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राजभापा हिन्दी स्वीकृत की गई है । इससे इस भापा के महत्त्व मे किसी को आशका नही हो सकती । स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत मे हिन्दी का वहुत महत्त्व रहा है । यह भापा सारे राष्ट्र को एक कडी मे जोडने वाली रही है । विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास मे अनेक वाधाएँ उत्पन्न कर दी, जो कि अव तक भी वाधक वनी हुई हैं, फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नही हो सकती । हिन्दी का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है । उसका वहुत लम्वा-चौडा विस्तार है । पर तेरापथ मे हिन्दी भापा का प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नही है ।

तेरापथ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षों तक मुख्यत राजस्थान ही रहता

रहा है। पहले यहाँ प्राय देशी रियासतो का ही बोलवाला था। लोगों की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाएँ थी। प्राय सर्वत्र राजस्थानी (मारवाडी) भाषा का ही प्रचलन था। अत. हिन्दी बोलना एक अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ मे हिन्दी भाषा के विषय मे कोई प्रकरण चल पडा। शुभकरणजी दशाणी भी वही थे। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा कि सन्तों मे क्या कोई हिन्दी-निबन्धादि लिख सकते हैं? आचार्यश्री ने हम तीनो सहपाठियो (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मैं) की ओर देखकर कहा—क्या उत्तर देते हो? हम तीनो ने उत्तर मे जब स्वीकृतिमूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिए ही चलाई थी, अन्यथा उन्हे पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुत. हम तीनो उन दिनो हिन्दी मे कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर यह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया था। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणामूलक विचार पाकर हमे भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हटकर प्रकट रूप मे आ गया। हम लोगो ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नही की थी। सीधे सस्कृत से ही उसमे आये थे, परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढते रहने के कारण वह अपने-आप ही हृदयगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गये। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन हिन्दी मे किया गया। स्वय आचार्यश्री ने हिन्दी मे अनेक रचनाएं की है। तेरापथ मे हिन्दी को बडी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमों के हिन्दी अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके हैं। कार्य बडे वेग से आगे बढ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य मे लगे हुए हैं। कई आगमो का अनुवाद हो भी चुका है।

भाषण-शक्ति का विकास

वि० स० १९९४ मे आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल मे भीनासर पधारे। उन दिनो हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे। पडित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होंने सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्ररचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सबसे श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"मैंने अनुभव किया है कि अब तक सस्कृत पठन के बाद श्लोक रचना की ओर तो सन्तो की सहज प्रवृत्ति होती रही है; पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ।" हम सबको आचार्यश्री के इस दिशानिर्देश से बडी प्रेरणा मिली। बात आगे बढी और अभ्यास-वृद्धि के मार्गो का निश्चय किया गया। पण्डितजी भी उस विचार-विमर्श मे सहायक थे। समय-समय पर वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा भाषण प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। सस्कृतज्ञ सन्तो को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता मे भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजना-पूर्वक भाषण-पद्धति को विकसित करने का यह प्रथम प्रयास था। इससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता, पर उससे बोलने की झिझक नही मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है; उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था। सस्कृत भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आँखो से उल्लास झाँक रहा था। किसी के मन मे बोलने की उत्सुकता थी, तो किसी के मन मे सुनने की। आचार्यश्री ने समवयस्कता और समयोग्यता के आधार पर दो-दो व्यक्तियो के अनेक ग्रुप बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद-प्रतियोगिता प्रारम्भ

हुई। आचार्यश्री को सन्तो के सामर्थ्य को तोलने का अवसर तो प्राय. मिलता ही रहता है, पर इससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का मौका मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उससे विद्यार्थी-वर्ग मे आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके बाद हम लोग स्वत अभ्यास मे भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल मे गाम-बाहर जाते; वहाँ अकेले ही खडे-खडे वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएँ होती रहती। उससे हमारी गति मे अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल मे सस्कृतज्ञ साधुओ की जितनी सख्या होती, उतनी बाद मे नही रह सकती थी, अत बडे पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताए प्राय शीत-काल मे ही हुआ करती। कई बार ऐसी प्रतियोगिताए अनेक दिनो तक चलती रहती। एक बार छापर मे वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आडसर मे भाषण प्रतियोगिता। वे दोनो ही काफी लम्बे समय तक चलती रही थी। धीरे-धीरे वक्तव्य-कला मे अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियो ने धाराप्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आडसर से प्रारम्भ हुई प्रतियोगिता मे मुनिश्री नथमलजी पुरस्कार भाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा मे थे। सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने सन्तो को बुलाया और सस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी मुनिश्री नगराजजी, तथा मैं) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण मे कोई विशेष योग्यता दिखाएगा तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सन्तो के भाषण हुए। उसमे मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने यह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनो ही एकाक्षर-प्रधान सस्कृत बोले थे।

सस्कृत के समान ही हिन्दी मे भी भाषण कला के विकास की

आवश्यकता थी, अत कभी-कभी हिन्दी-भापणो का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है। कभी-कभी ये भापण भापा की दृष्टि को प्रधानता देकर भी होते रहे हैं। कभी-कभी विचार गोष्ठियो का आयोजन किया जाता रहा है। उसमे किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य, दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विपय पर वक्तव्य रखा जाता और भापण के पश्चात् उसी विपय पर प्रश्नोत्तर चलते। एक वार स० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्प की विचारगोष्ठियो के भापण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोदय' नाम से हस्त-लिखित पुस्तक के रूप मे सकलित भी किये गये थे। वक्तव्य-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं। हर नवीन उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओ के वल पर सघ ने हर वार उसे प्राप्त किया है।

कहानियां और निबन्ध

वक्तव्य-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था। आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र मे विकास करने के सकल्प को लेकर चल रहा था। हम सव उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र वने हुए थे। आचार्यश्री ने हम सवको मार्ग-दर्शन देते हुए कहा—तुम लोगो को प्रतिमास सस्कृत मे एक कहानी लिखनी चाहिए। प्रत्येक महीने की सुदी ६ का दिन निश्चित कर दिया गया। इस वार कौनसी कहानी लिखनी है, यह उस दिन वता दिया जाता और हम प्राय चार दिन के अन्दर अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते। अनेक महीनो तक यह क्रम चलता रहा। इससे हमारा अभ्यास वढा, चिन्तन वढा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य वढा।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निवन्ध लिखना अनिवार्य कर दिया गया। यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा। कई वार निवन्ध-प्रतियोगिताए भी की गई। अशुद्धिया निकालने के लिए पहले तो हम एक दूसरे की कथाओ तथा निवन्धो का निरीक्षण करते, पर वाद में कई वार गोप्ठी के रूप मे सव सम्मिलित

बैठकर भी बारी-बारी से अपना निवन्ध पढ़कर सुनाते और एक दूसरे की अशुद्धिया निकालते। सस्कृत-भाषा के अभ्यास मे यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग मे ही चालू हो चुका था। अनेक सन्तो ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रो के विभिन्न पदो को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वय आचार्यश्री ने भी आचार्यश्री कालूगणी की स्तुति-रूप मे कल्याण-मन्दिर की समस्या-पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप मे न होकर अन्य रूप मे था किसी काव्य आदि मे से लेकर तथा नवीन बनाकर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि मे उनकी पूर्ति करवाई जाती। शीतकाल मे बाहर से भी मुनिजन आ जाते, तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा मे सुनाये जाते, बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार सस्कृत मे भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तिया चलती रहती थी। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते थे, जिनमे यह प्रतिज्ञा रहती थी कि सस्कृतज्ञो के साथ साधारणतया सस्कृत मे ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण सस्कृतमय ही रहा करता था।

जयज्योति.

स० २००५ के फाल्गुन मे जयज्योति. नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति मे किया गया था। इसमे सस्कृत और हिन्दी; दोनो भाषाओ के ही लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्र भी निकाला गया था। वह प्राय. नवीन विद्यार्थियो की उपयोगिता की दृष्टि से निकलता था।

एकाह्निक शतक

पडित रघुनन्दनजी शर्मा जब पहले-पहल आचार्यश्री कालूगणी के सम्पर्क मे आये थे, तब उन्हे जैन साधुओ का आचार-व्यवहार बतलाया गया था। जो कुछ उन्होने वहां सुना, उसे घर जाकर कुछ ही घण्टों मे सस्कृत के सौ श्लोको मे आबद्ध कर दिया। उनकी वह कृति 'साधु शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। हम लोगो के विचारो मे वह शतक घूमने लगा। हम भी एक दिन मे शतक बनाने की सोचने लगे। पाँखें खुलते ही पखी उडने को आतुर हो जाता है। वही स्थिति हमारी कल्पनाओ की थी।

स० २००० के फाल्गुन मे आचार्यश्री भीनासर मे थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री नगराजजी ने एकाह्निक शतक बनाये। मैं आचार्यश्री कालूगणी के दिवगत होने की मूलतिथि के दिन ही उनकी स्तुति मे शतक बनाना चाहता था, अत भाद्रव शुक्ला ६ तक के लिए मुझे रुकना पडा। वह तिथि आई, तब मैने भी एकाह्निक शतक बनाया। आचार्यश्री ने हम सबको पुरस्कृत किया। फिर और भी अनेक सन्तों ने शतक लिखे।

हमसे अगली पीढी के विद्यार्थियो ने उस कार्य को और भी बढाया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने एक दिन मे पचशती (५०० श्लोक) की रचना की। कई वर्ष बाद मुनि राकेशकुमारजी ने एक हजार श्लोक बनाये और उनके बाद मुनि गुलाबचन्दजी ने ग्यारह सौ।

आशुकवित्व

सवत् २००१ का मर्यादा-महोत्सव सुजानगढ मे था। वहाँ मैंने अपने आशुकवित्व के अभ्यास को आचार्यश्री के चरणो मे निवेदित किया। आशुकविता के क्षेत्र मे यह सर्वप्रथम पदन्यास था। उसके बाद सवत् २००४ के मिगसर महीने मे राजलदेसर मे मुनिश्री नथमलजी और मैंने जनता के सम्मुख आशुकविता की। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी चतुर्थ आशुकवि हुए। उनके बाद अन्य अनेक सतो ने भी आशुकविता का अभ्यास किया। इस क्षेत्र मे भी पडित रघुनन्दनजी का

आशुकवित्व ही प्रेरणा का सूत्र बना था। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनों को जो सफलता प्रदान की है, वह विद्वत्-समाज में संघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घकाल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरण-शक्ति का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद्रायचन्द भी अवधान विद्या में निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्राय बहुत समय से सुनते आये थे, परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप सं० १९९९ बीदासर में देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसीशाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये थे। वे शतावधानी थे। उन्होंने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत किये। आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तेरापथ संघ में भी इस विद्या का प्रवेश हो, ऐसा उनके मन में संकल्प हुआ। कालान्तर में मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ। वहीं धीरज-लाल भाई ने उनको वह विद्या सिखाई। उन्होंने वहाँ विधिवत् सौ अव-धानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र में पहल की। आचार्यश्री का संकल्प मूर्त बन गया।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान विद्या को भारत-विश्रुत ही नहीं, परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया। दिल्ली में किये गए उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रों में उनकी बहुत चर्चाएँ हुईं। स्वयं राष्ट्रपति इस विषय में जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन में यह प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति भवन की ओर से ही यह कार्यक्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उच्च-तम व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू

आदि उसमें प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित थे। अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गये। निर्धारित प्रश्नों की समाप्ति के बाद जब उन्होंने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नों को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये। एक अन्य समारोह में गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है। मुनिश्री नगराजजी ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हें बतलाया कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नहीं है। यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलों ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियों ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकरणजी ने पाँच सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारशहर) और धर्मचन्दजी ने एक हजार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ़ हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अंकुरित हुए हैं, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हैं। उन्होंने अपने शिष्य वर्ग को सत्-प्रेरणाओं से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे संघ का सर्वांगीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हें अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

अध्ययन-कौशल

कार्य-भार और कार्य-वेग

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को खपाना पड़ता है, जबकि अध्यापन में पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर

भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमे खड़ जैसे सक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियो की योग्यता के अनुसार घटा-बढाकर प्रस्तुत करना पडता है। इन जैसी और भी अगणित कठिनाइयाँ इस मार्ग मे रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएँ इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती हैं। आचार्यश्री उन्ही उदात्त भावनाओ वाले व्यक्ति हैं।

आप मे क्रिया-जन्य अध्यापन-कुशलता से कही अधिक वह सस्कार-जन्य प्रतीत होती है। बहुत से लोग तो अध्यापक बनते हैं; पर वे अध्यापक हैं। बनने की बात तो तब आती है, जब कि होने की बात गौण रह जाती है। वे तेरापथ के एकमात्र शास्ता हैं। सघ की व्यवस्था, सरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व उन्ही पर है। अपने अनुयायियो के धार्मिक सस्कारो का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ-साथ वे जन-साधारण मे आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्ही विचारो का मूर्तरूप है। जनता के नैतिक अधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता और बढ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ गया है, अत वह व्यस्तता उन्हे अस्त-व्यस्त नही कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सम्भाले रहता है। तभी तो वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन कार्य के लिए निकाल ही लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नही, किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से करते रहे हैं।

जब वे स्वय छात्र थे और निरन्तर अध्ययन रत रहा करते थे, तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख मे अध्ययन किया करते थे। छात्रो पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नही, मृदु होता था। वे अपने छात्रो को कभी विशेष

उलाहना नहीं दिया करते थे। डॉट-डपट करने पर तो उन्हे विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओ को वे इतना नियन्त्रण मे रख लेते थे कि कोई भी कार्य उनको विना पूछे नही हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमे आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उससे वाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनो आप अपने विद्यार्थी साधुओ के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे-से-छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रख पाने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नही, किन्तु सरक्षक तथा माता-पिता; सब-कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओं को कही इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर वातो मे समय व्यय न करने देना, एक के वाद एक काम मे उनका मन लगाये रखना, अपनी सयत वृत्तियो के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को सयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको आप अध्यापन-कार्य का ही अग मानते रहे है।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य मे जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओ के अध्यापन-कार्य मे भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरो को अपनाने की और दूसरों को अपना स्वत्व सौपने की उनमे भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी आपको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु-समुदाय मे विद्या का अधिक-से-अधिक प्रसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय वनाकर वे चलने लगे थे। मुनिश्री चम्पालालजी (आपके ससार-पक्षीय वडे भाई) कई वार आपको टोकते हुए कहते—तू दूसरो ही दूसरो पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?

इसके उत्तर मे आप कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है।" उस समय के इस उदारता-पूर्ण उत्तर के प्रकाश मे जव हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि सचमुच मे वे उस समय अपना ही

काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नीव उन्होने डाली थी; वही तो ग्राज प्रतिफलित होकर सामने ग्रा रही है। समस्त सघ की सामूहिक प्रगति ग्राज उनकी व्यक्तिगत प्रगति वन गई है।

तुलसी डरै सो ऊवरै

जिन विद्यार्थियो को उनके सान्निध्य मे रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुग्रा था, उनमे से एक मैं भी हूँ। हम छात्रो मे उनके प्रति जितना स्नेह था, उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बाल-कल्पनाग्रो का कोई ग्रन्त नही था। एक वार मैं ग्रौर मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी ग्राचार्यश्री कालूगणी की सेवा मे बैठे थे। उन्होने हमे एक दोहा कठस्थ कराया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी मे सार।
'तुलसी' डरै सो ऊवरे, गाफिल खावे मार॥

इसके तीसरे पद का ग्रर्थ हमने ग्रपनी वाल-सुलभ कल्पना के ग्रनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान, गुरु, जनता ग्रौर ग्रपनी क्रिया के प्रति भय रखना ग्रावश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी ग्रावश्यक है। उस समय हमारी कल्पना मे यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नही, किन्तु ग्रपने ग्रध्यापक का ही नाम था, जिनसे कि हम डरते थे। हम समझे थे कि ग्राचार्यदेव हमे वता रहे हैं; तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नही उठ सका कि उनसे भय खाना क्यो ठीक है ? पर ग्राज उसी स्थिति का स्मरण करते हुए जव उस वाल-सुलभ ग्रर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तव मन कहता है कि यह ग्रर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी मे ग्रपने ग्रध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह ग्रनुशासनहीन वन जाता है। इसी तरह जिसमे स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन वन जाता है। सफलता उन दोनो के सम्मिलन मे है। हम लोगो मे उनके प्रति स्नेह से उद्भूत

भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौहो का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनो नही समझते थे, उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियो का अध्ययन मे उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था मे आचार्यश्री ने अनेको मे उत्साह जागृत किया था तथा अनेको के उत्साह को बढाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूँगा। जब हमने नाममाला कण्ठस्थ करनी प्रारम्भ की, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदो ने हमको ऊबा दिया था। उन्होने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भाँप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घटा तक हमे अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पडने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता मे भी कमी लगने लगी। थोडे दिनो बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था; अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियो की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यो की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे अधिक बडा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति मे यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओ को मिटाने मे आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रो तक सीमित था, पर आज वह समूचे संघ मे व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही, पर कर जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी अवस्था से बालक होता है, स्वभाव से चुलबुला, तो प्रकृति से स्वच्छन्द। अन्य-अन्य जीवन-व्यवहारों के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो चीज सीखने में आती है, उसमें बहुधा स्खलनाएं भी होती हैं। स्खलनाओं को असह्य मानने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो जाए, तब तक अनुशासक को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूति युक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे, किन्तु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना, उसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

मैं और मुनिश्री नथमलजी छोटी अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी में थे। हम दोनों ने पास में जाकर वन्दन किया तो आचार्यदेव ने पूछा—बोलो, किस लिए आये हो? हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बांधकर कहा—तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कड़ाई करते हैं। हमें परस्पर बात करने नहीं देते। आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—यह सब तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से? हमने कहा—करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं। आचार्यदेव बोले—तब फिर क्या शिकायत रह जाती है? इसमें तो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी। हम दोनों ही अवाक् थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनाई कि राजा का पुत्र गुरुकुल में पढ़ा करता था। पढ़ाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाजार में एक दूकान से उन्होंने

गेहूँ खरीदे और पोटली बाँधकर राजकुमार को उठाने के लिए कहा। वह अस्वीकार तो नहीं कर सका; पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग में थोड़ी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे राज-सभा में पहुँचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयों में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा ?

अध्यापक—बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।

राजकुमार से पूछा—आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?

राजकुमार—इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।

राजा—कैसे ?

राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई। राजा भी उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी; जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने में कितना कष्ट होता है। इस बात को जान लेने पर यह अत्यन्त गरीबी में रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले अभावग्रस्तों के श्रम का मूल्य आँक सकेगा और किसी पर अन्याय नहीं कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है; तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ? उसने तो तुम्हें केवल बात करने से ही रोका है। जाओ; पढ़ा करो और वह कहे वैसे ही किया करो।

हम आशा लेकर गये थे और निराशा लेकर चले आये। दूसरे दिन पढ़ने के लिए गये तो यह भय सता रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा ? हम कई दिनों तक कतराते-कतराते से रहे; पर उन्होंने यह कभी मालूम तक नहीं होने दिया कि शिकायत करने की त का उन्हें पता है।

दूसरो को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कही अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रो के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रो पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रो पर पडने वाले रौब से कही अधिक, उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले सयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

विकास का बीज-मन्त्र

अध्यापन के कार्य मे आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि मे अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि सघ-सचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यो मे लगाते हैं, उसी प्रकार इसमे भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बडा बन जाता है। वस्तुत कोई पाठ छोटा होता ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्ही छोटे-छोटे पाठो की भित्ति पर खडा हुआ है।

वे जब पढाते हैं तो अध्यापन-रस मे सराबोर होकर पढाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णत. स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता मे बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियो को शब्द-रूप और धातु-रूप पढाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा मे देखे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन मे भी देखे जा सकते हैं। सामान्यत उनकी वह प्रसन्नता ग्रन्थ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नही होती; अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास मे सहयोग दे रहे हैं। वे अपने नि.शेष आवश्यक कार्यो मे इसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। सघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गाँधी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास

करा रहे थे। आश्रम मे देश के अनेक उच्च कोटि के नेता आये हुए थे। उन्हे गाँधीजी से देश की विभिन्न समस्याओ पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। वड़ी व्याकुलता लिए वे सव वाहर वैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे। एक परिचित विदेशी ने झुँझलाकर गाँधीजी से कहा,—"बहुत लोग प्रतीक्षा मे वैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारो ओर ढेर लगा है। ऐसे समय मे यह आप क्या कर रहे हैं?" गाँधीजी ने स्मित भाव से उत्तर देते हुए कहा—"मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।" प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते? चुप होकर वैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मन्त्र मानते है।

कहीं मै ही गलत न होऊँ

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनो यात्राओ से छोटी थी, पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बडी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियो के आगमन का प्रवाह प्राय निरन्तर चालू रहता। प्रतिदिन अनेक स्थानो पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनो दिन का प्राय समस्त समय अन्यान्य कार्यों मे विभक्त हो गया था, पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे। दिन मे समय न मिला तो पश्चिम-रात्रि मे ही सही। 'शान्तसुधारस' का अर्थ छात्रो को वताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दो की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक वार आचार्यश्री ने शान्तसुधारस मे प्रयुक्त किसी समास के विषय मे छात्रो से पूछा, उन्हे नही आया, तव उनसे अग्रिम श्रेणी वालो को वुलाया और उसी समास के विषय मे पूछा। उन्हें भी नही आया,

तब आचार्यश्री ने हम लोगो को (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुझे) बुलाया। हमने कुछ निवेदित किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नही था। पर वे बोले—'तो कही मैं ही गलत न होऊँ ?' अपनी धारणा वाला सूत्र बतलाते हुए कहा—'क्या यह इस सूत्र से सिद्ध होने वाला समास नही है ?' हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान मे आ गई और हम बोल पडे—सचमुच मे यही सूत्र समास करने वाला है।

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है, परन्तु वे उसका कभी अभिमान नही करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं, परन्तु कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है, वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नही होती, और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होती, बहुधा वही उसकी सबमे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यो की विकासोन्मुखता मे आचार्यश्री असीम उदारता बरतते है। विकास के जो क्षितिज सघ के साधु-साध्वियो के लिए खुल नही पाये थे; उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होने विकास मे एक नया अध्याय जोडा है। शिष्यो के विकास को वे अपना विकास मानते हैं और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियो से तो उन्होंने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओ मे भी इस भावना का अकन किया है। 'कालू-यशोविलास' मे वे एक जगह कहते हैं—

बढ़ै शिष्य नी साहिबी, जिम हिम-रितु नी रात।
तिम तिम ही गुरु नी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्यवर्ग को जहाँ आगे बढाने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदारता का परिचय भी देता है। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात् पुत्र को अपने से बढकर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्तरूप कहे जा सकते हैं।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था, अत. अनेक साधु उनके जीवन-काल मे ही निपुण बन चुके थे, लेकिन साध्वी-समुदाय मे ऐसी स्थिति नही थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नही थी कि उस पर साध्वियो की शिक्षा का भार छोडा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वय अधिक समय नहीं दे पाते थे, फिर भी उन्होंने विद्या का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप मे चुना, तब सघ-विकास के जिन कार्यक्रमो का आदेश-निर्देश किया था, उनमे साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान मे रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती हैं, परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ मे कुछ साध्वियो को सस्कृत-व्याकरण कालूकौमुदी पढाकर इस कार्य का प्रारम्भ किया गया और क्रमश अनेक विषयो के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। स० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इसमें अनेक कठिनाइयाँ थी। अध्ययन निरन्तरता चाहता है, पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-जब आचार्यश्री अन्य कार्यों मे अधिक व्यस्त होते, तब-तब अध्ययन को स्थगित करना पडता। फिर भी निरन्तरता की ओर विशेष सावधानी बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओ के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन-शास्त्र तक का अध्ययन करने मे लगी हुई हैं।

अध्ययन की एक समस्या

साध्वी-समाज मे अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है, वहाँ अध्यापन-विषयक एक समस्या

भी खड़ी करली हैं। आचार्यश्री के साथ-साथ विहार करने वाली साध्वियों को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है, परन्तु वे तो संख्या में बहुत थोड़ी ही होती हैं। अधिकांश साध्वियाँ पृथक् विहार करती हैं, उनकी अध्ययन-पिपासा को शान्त करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियो को विदुषी बनाने का बहुत बडा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय मे आचार्यश्री बहुधा चिन्तन करते रहते हैं। तेरापथ-द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रशिक्षणार्थी को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा; परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप मे परिणत करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सक्ती है, पर साध्वियों के लिए वैसा कर पाना सुगम नही है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख मे प्रतिवर्ष कोई विद्या-केन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षणात्मक रूप मे सामने आया है; परन्तु अभी इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालना अवशिष्ट है। जो सीखना चाहता है, उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसीलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य मे यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव कराई। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव मे साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियो का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियो का कोई विकास नही हो पाया था। इसकी जड़ में एक कारण यह था कि उस समय प्राय. सस्कृत इसलिए पढी जाती थी कि उससे आगमो की टीकाओ का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वयं टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का

लक्ष्य सामने नही था। इसीलिए व्याकरण कण्ठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता था। उस समय तक सस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना मे परिवर्तन आया और कुछ छुट-पुट रचनाएँ होने लगी, पर यह सब अध्ययन के बाद की प्रक्रियाए थी। अध्ययन क्रम क्या हो; यह निर्धारण बहुत बाद मे हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री पत्रिका देख रहे थे। उसमे किसी सस्था-विशेष का पूर्ण परिचय छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकड़ा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति मे लम्बी दूरी नही होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियाँ साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य माना जाये तो कोई अत्युक्ति नही मानी जायेगी। वे सोचते हैं, बतलाते हैं और कर डालते हैं। उनके कार्य की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। पाठ्यक्रम के निर्धारण का विचार उठा, शिष्यो मे चर्चा की गई, रूपरेखा बनाई गई और लागू कर दिया गया। यह स० २००५ के आसोज की बात है। अगले वर्ष स०२००६ के माघ मे लगभग ३० व्यक्तियो ने परीक्षाएँ दी।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारो के बहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारों का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नही की जा सकती। तेरापथ के शिक्षा-क्षेत्र मे आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य-प्रणाली का नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम।'

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण मे उन विद्यार्थियो की आवश्यकता को

ध्यान मे रखा गया कि जो सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हो। इस शिक्षा-क्रम के तीन विभाग हैं—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। सघ मे इस शिक्षा-क्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियों ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयागिता को सिद्ध कर दिया है।

एक दूसरी पाठ्य-प्रणाली 'सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियो के लिए थी, जो अनेक विपयो मे निष्णात वनने की क्षमता नही रखते हो, वे आगम-ज्ञान मे अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विपय मे पारगत हो सकें। इन शिक्षा-क्रमो मे अनेक परिवर्तन भी हुए हैं और शायद आगे भी होते रहे। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है, परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी वन सके, यह ध्यान रखा जाता है। आचार्यश्री कालूगणी ने शासन मे विद्या-विपयक जो कल्पना की थी, उसे मूर्तरूप देने का अवसर आचार्यश्री को मिला। उन्होंने उस कार्य को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापथ युग-भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप मे आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नही है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की मांग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियो मे हुआ, उन सबके अनुशीलन पर ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक माँग थी। यह वह समय था, जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद क्षत-विक्षत मानवता के घावो से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था, अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम यही होता है। भारत महायुद्ध के अभिशापो से मुक्त होता, उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय सघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारो ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनाई देने लगा। उसमे जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओ का बहुत भयकरता से पतन हुआ। ज्यो-त्यो करके जब वह वातावरण शान्त हुआ तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयो का हल खोजने मे जुटने लगे। देश के कर्णधारो ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाए बनायी और देश को समृद्ध बनाने का सकल्प किया। कार्य चालू हुआ और देश अपनी मजिल की ओर बढने लगा।

उस समय देश मे अध्यात्म-भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलन्त समस्या थी, उस ओर प्राय न किसी जननेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इस कमी को महसूस किया और इस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

नि श्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय मे लग जाना कभी खतरे से खाली नही होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है, साथ ही अस्वाभाविक भी। भौतिक उन्नति को अभ्युदय कहा जाता है। मनुष्य जड नही है, अतः भौतिक उन्नति उसकी स्वय की उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्मगुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्म-गुण, अर्थात् आत्मा के सहज भाव। आगम-भाषा मे जिन्हे सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य, शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा। उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और नि.श्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है; परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो किसी भी प्रकार से नही निभ सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश मे उस समय जो योजनाएँ बनी, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थी। आत्म-परितृप्ति के लिए उनमे कोई स्थान नही था।

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र मे काम किया। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्म-तृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारो का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने मे वे सफल हुए। आपकी योजनाओ, कार्यक्रमो और विचारो का कही प्रत्यक्ष तो कही अप्रत्यक्ष प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान की आवाज को बुलन्द करने मे आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियो का स्वर भी समवेत हुआ है जो इस क्षेत्र मे अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पचवर्षीय योजनाओ मे जहाँ नैतिकता या सदाचार सम्बन्धी कोई चिन्ता नही की गई, वहाँ तृतीय योजना उससे बिल्कुल रिक्त नही कही जा सकती। यह देश के कर्णधारो के बदले हुए विचारो का ही तो परिचय है। इन विचारो को बदलने मे अन्य अनेक कारण

हो सकते हैं; पर उसमे कुछ-न-कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके द्वारा देश मे उत्पन्न किए वातावरण का भी कहा जा सकता है। आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा पहले अनुभव किया, इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किए बिना इस कार्य मे जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हें अब इस ओर त्वरता से आगे आना चाहिए। पण्डित नेहरू के विचार भी इन दिनो मे बहुत परिवर्तित हो गए हैं। वे अब मनुष्य की इस अद्वितीय भूख को पहचानने लगे हैं। 'ब्लिट्ज' के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने मे यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है। करंजिया ने पूछा था—"आपके कुछ वक्तव्यो मे यह चर्चा है कि देश की समस्याओ के लिए नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानो की भी सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझें कि जीवन के सान्ध्य मे नेहरू बदल गया है?"

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा—"इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप मे रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' मे ही उत्तर दूंगा। मैं वस्तुत बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यो मे नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानो की चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नही होती। बहुत सोच-विचार कर ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिन्तन के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज के मानव की आत्मा अशान्त और भूखी है। ससार का समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नही मिटा सकेगा, यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी।"[1]

---

1. Is not that unlike the Jawaharlal of yesterday. Mr. Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raises visions of Mr. Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans. If you put it that way, my answer is: yes, I have changed. The emphasis on ethical and spiritual

रूपरेखा

अणुव्रत- आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण-सी घटना से हुआ। बड़ी-से-बड़ी नदी का भी उत्स प्रायः साधारण ही होता है। आचार्यश्री के पास बैठे हुए व्यक्ति नैतिकता के विषय मे परस्पर बात कर रहे थे। उनमे से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बड़ा जोर देकर कहा कि इस युग मे नैतिकता कोई रख ही नही सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत मे भाग नहीं ले रहे थे, किन्तु उस भाई के इन शब्दो ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे कुछ भी नहीं बोले, किन्तु उनके मन मे एक उथल-पुथल अवश्य मच गई। नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से उनको एक प्रेरणा मिली। वहाँ से वे प्रभातकालीन प्रवचन करने के लिए सभा में गये। जो बात उनके मस्तिष्क में घूम रही थी, वही प्रवचन में शत-शत धारा बनकर फूट पड़ी। उन्होने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर में पच्चीस ऐसे व्यक्तियो की माँग की जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और हर सम्भावित खतरे को झेल सकें। इस माँग के साथ ही वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-बल को तौलने लगे। मनो-मन्थन का वह एक अद्भुत दृश्य था। सहसा सभा में से कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया।

---

solutions is not unconscious It is deliberate, quite deliberate. There are good reasons for it. First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in term of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehrus p 31

एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गये। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगो के मन में गूंजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे-से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत-आन्दोलन की नींव के लिए प्रथम ईंट बन गई।

उस समय यह कल्पना भी नही की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ मे केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क मे आते हैं; उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न माने, उसे जीवन-शोधक के रूप मे स्वीकार करें। जिन व्यक्तियो ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे, उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएँ चलने लगी। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा उन्होंने व्रतो की रूपरेखा बनायी और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श-श्रावक-सघ' के रूप मे यह योजना जनता के सम्मुख रखी गई। चिन्तन फिर आगे बढा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग मे ही नही है, वह तो हर धर्म के व्यक्तियों मे समायी हुई है। इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर क्यो न सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर इसी चिन्तन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और स० २००५ मे फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) मे आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय मे प्रयोग कर रहे थे, परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था।

'नव सूत्री[1] योजना' और 'तेरह सूत्री[2] योजना' के द्वारा लगभग तीस हज़ार व्यक्तियो को नैतिक उद्‌बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियो ने उन योजनाओ के व्रतो को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ भूमिका तैयार कर दी थी।

नामकरण

प्रारम्भ मे अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती-सघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन परम्परा से लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब सकल्प का रूप ग्रहण करता है, तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा मे महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति मे अणुव्रत। एक सयम की उच्चतम स्थिति है तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण सयम मे रहना कठिन साधना है, तो पूर्ण असयम मे रहना सर्वथा अहितकर। दोनो अतियो के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत-नियमो का पाल करने वाले व्यक्तियो के सगठन का नाम रखा गया—'अणुव्रती-सघ'।

---

१. (१) आत्म-हत्या करने का त्याग, (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग, (३) मांस और अण्डा खाने का त्याग, (४) बड़ी चोरी करने का त्याग, (५) जूआ खेलने का त्याग, (६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग, (७) झूठा मामला और असत्य साक्षी का त्याग, (८) मिलावट का व नकली को असली बताकर वेचने का त्याग और (९) तौल-माप मे कमी-वेशी करने का त्याग।

२ (१) निरपराध चलते-फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना, (२) आत्म-हत्या न करना, (३) मद्य न पीना, (४) मांस न खाना, (५) चोरी न करना, (६) जूआ न खेलना, (७) झूठी साक्षी न देना (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना (९) पर-स्त्री गमन न करना, अप्राकृतिक मैथुन न करना (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना (१२) रात्रि-भोजन न करना (१३) साधु के लिए भोजन न बनाना।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हजारो व्यक्ति अणुव्रती बने, लाखों ने उनका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोडो तक पहुँची। बम्बई मे हुए पचम अधिवेशन तक अणुव्रतियो के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमश बढती हुई सख्या की सुव्यवस्था रखने मे शक्ति लगाने का विचार छोड़ दिया गया। सख्या का लोभ पहले भी नही रखा गया था, केवल भावना-प्रसार के रूप मे ही जनता उसमे भाग ले, यही अभीष्ट माना गया। नियमो मे परिवर्तन किये गए। नाम के विषय मे भी सुझाव आया कि 'संघ' शब्द सीमा को सकुचित करता है, जब कि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था, अत. मान लिया गया। तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

व्रतों का स्वरूप-निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुलाश मे राजस्थान के सम्पर्क मे ही रहे थे। नियमावली बनाते समय वहीं के गुण-दोष स्पष्ट रूप से सामने आ सके। वहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मानकर ही व्रतो का स्वरूप-निर्धारण किया गया। पहले-पहल व्रतो की सख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यो-ज्यो व्यापकता होती गई, त्यो-त्यो देश तथा विदेश के व्यक्तियो की प्रतिक्रियाएं सामने आने लगी।

भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशसनीय बताते हुए कुछ बातो की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हें लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक हैं, परन्तु अहिंसा-व्रत पर पथ की पूरी छाप है। उन्होंने उदाहरण के रूप मे मासाहार और रेशमी-वस्त्रो के विषय में लिखा है कि जैनो और वैष्णवो की एक छोटी-सी सख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकाश व्यक्ति मासाहार के नियम निभाने की स्थिति मे नही होते। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत बना, तो मोती के लिए क्यो नही बना ?[1] रेशम के समान उनमे भी छोटे जीवो की हिंसा होती है।

१. हरिजन सेवक, २० मार्च, १६५०

मासाहार यद्यपि मानव-जाति में बहुत व्यापक रूप से प्रचलित है। जैनो और वैष्णवो ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है; परन्तु आज वह केवल धार्मिक प्रश्न ही नही रह गया है। शरीर-शास्त्रियो की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मास मनुष्य के लिए खाद्य नही है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्राय हर देश मे मिल जाते हैं; अत. इसमे किसी पथ के दृष्टिकोण को महत्व देने या न देने का प्रश्न नही है। आचार्यश्री का चिन्तन रहा है कि निरा-मिषता का क्रमिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिषभोजियो को अणुव्रत मे स्थान न हो, यह भी अभीष्ट नही माना गया; अत प्रवेशक-अणुव्रती के व्रतो मे वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियो के व्रतो मे रखा गया। इससे उनकी साधना को क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

सत्य-अणुव्रत के विषय मे आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है, अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नही बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि लक्ष्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है, उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना मे जब तक पूर्णता का समावेश नही हो जाता, तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नही हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-शक्यता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खण्ड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियो की प्रतिक्रिया थी कि इनमे से कुछ नियमो को छोडकर शेष नियमो का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नही। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि मे रखकर ही बनाये गए प्रतीत होते हैं। उन लोगो की यह बात कुछ अशो मे ठीक ही थी, क्योकि स्थानीय परि-स्थितियो का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नही रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओ तथा सुझावो के प्रकाश मे नियमा-

वली को फिर से सशोधित करने का निश्चय किया गया। इस बार के सशोधनो मे यह बात मुख्यता से रखी गई कि असयम की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं, उपभेदो मे भले ही अन्तर आता रहे। इसलिए नियमावली मूल प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ही बनायी गई। शेप नियम देश-कालानुसार स्वय निर्धारित करने के लिए छोड दिये गए। इस क्रम से नियमो की सख्या घटकर केवल बयालीस रह गई।

प्रथम रूप-रेखा मे अणुव्रतियो की कोई श्रेणियाँ नही थी। इस बार उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गई—(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणिया किसी पद की प्रतीक नही हैं, अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति सूचक सीढियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए बयालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए छ नियम हैं।' इस प्रकार व्रतो के स्वरूप का जो निर्णय किया गया, वह कई परिवर्तनों के बाद की स्थिति है।

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ मे लोगो को यह विश्वास नही हो पा रहा था कि एक सम्प्रदाय का आचार्य इतना उदार बनकर सब धर्मो की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार सामने आता रहता था कि अणुव्रती बनने पर क्या हमे आपको धर्म-गुरु मानना होगा? दिल्ली मे एक भाई ने यही प्रश्न सभा मे खडे होकर पूछा था। आचार्यश्री ने कहा—"यह कोई आवश्यक नही है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतो का पालन करना ही आवश्यक है। कौन-से धर्म को मानते हैं, किसको धर्म-गुरु मानते हैं, अथवा किसी धर्म को मानते भी हैं या नही—इन सब बातो मे अपने विचार और प्रवृत्ति

को यथारुचि रखने में आप स्वतन्त्र हैं। आन्दोलन उसमे बाधक नही बनता।"

जनता ज्यो-ज्यो सम्पर्क मे आती गई, त्यो-त्यो साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमे सभी तबको के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि सभी धर्मो को इसमे अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन मे राजनैतिक-सम्प्रदायो का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक-पार्टी की कठपुतली नही बना देना चाहते। समय-समय पर प्राय. अनेक राजनैतिक दलो के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमो मे सम्मिलित होते रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यो न रहते रहे हो, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता वे समान रूप से ही समझते रहे हैं। सन् १९५६ मे चुनावो की तैयारियाँ हो रही थी, तब आचार्यश्री भी दिल्ली मे ही थे। आम चुनावो मे अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियो का समावेश न हो, इस लक्ष्य से आचार्यश्री के सान्निध्य मे एक सभा का आयोजन किया गया। उसमे चुनाव-मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस-अध्यक्ष श्री उ० न० ढेवर, साम्यवादी नेता श्री अ० क० गोपालन, प्रजासमाजवादी नेता श्री जी० भ० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे। सभी ने आन्दोलन के व्रतो को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया।

सहयोगी भाव

असम्प्रदाय-भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का, जो सर्व-साधारण मे अव्याहत रूप से फैल चुकी हो, सामना करने मे अपने-आपको असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमे भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने मे एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों

का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनाना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ अवश्य होता है, पर जीवन-व्यवहार में निभ तभी सकता है, जब कि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन पद्धति के पोषक तथा सहायक हों।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते हैं कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों को एकरूपता प्रदान की जा सके और उससे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते ? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—"मैं सर्वोदय कार्यकर्ताओं के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।"

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ था। यद्यपि इसके प्रसार की दिशाएँ जयपुर में ही उन्मुक्त होने लगी थीं; पर सार्वजनिक रूप इसे दिल्ली में मिला। यह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-नया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नहीं थीं। अविश्वास, सन्देह और विरोध की मिली-जुली भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता में रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा, पर उनकी आवाज़ समय की आवाज़ थी। उसकी उपेक्षा की नहीं जा सकती थी। उनकी बातों ने धीरे-धीरे जनता के मन को छुआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।

कुछ दिन वाद वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली नगर-पालिका-भवन के पीछे के मैदान मे हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण मे एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिको ने एक आशा भरे दृष्टि-कोण से अधिवेशन की कार्यवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्य-कर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी सख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनाई गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनो मे जहाँ पिचहत्तर व्यक्ति थे, वहाँ इस अधिवेशन के समय छ सौ-पच्चीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए यह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का यह सबसे बडा आकर्षण था। इससे देश मे नैतिक क्रान्ति के बीज अकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखाई देने लगा। चारो ओर चलनेवाली अनैतिकता मे खड़े होकर कुछ व्यक्ति यह सकल्प करे कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नही करेंगे, तो यह एक अघटनीय घटना ही लग सकती है। अनैतिक वातावरण मे मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूलकर भी याद नही करता, वहाँ कुछ व्यक्तियो का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष ही था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारो पर इस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश के प्राय सभी दैनिक पत्रो ने बड़े-बड़े शीर्षको से इन समाचारों को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रो मे एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। हिन्दुस्तान टाइम्स (नईदिल्ली) ने अपने सांध्य-संस्करण में लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नही हुआ, एक किरण दीख पडी है।......जब अनुचित रूप से कमाये गए पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते हैं; तब कौन उनसे प्रभावित नही होगा।......उन्होंने यह सत्प्रतिज्ञा आचार्यश्री तुलसी के सामने अणुव्रती-सघ के पहले वार्षिक

अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है।······आचार्य तुलसी जो कि इस सगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानो को पार करके दिल्ली की पक्की सडको पर आये हैं।"

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती सघ का स्वागत करते हुए लिखा था—"···इस देश मे व्यापार-व्यवसाय मे मिथ्या जोरो पर है। यह भय है कि कही उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढाचा ही नष्ट न हो जाये, इसलिए कुछ व्यापारियो का यह आन्दोलन कि वे व्यापार-व्यवसाय मे मिथ्या आचार न करेंगे, देश मे स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा। इस दिशा मे अणुव्रती-सघ के आचार्यश्र तुलसी ने जो पहल की है, उसके लिएवं बधाई के अधिकारी हैं।"

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बगला दैनिक आनन्द बाजार पत्रिका ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था—"तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है ! क्या सत्युग प्रकट होने को है ? नई दिल्ली, ३० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़पति लोगो ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोरबाजारी नही करेंगे।···इसके प्रेरक हैं आचार्यश्री तुलसी, जिन्होंने मानव-जाति की समस्त बुराइयो को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया है। उसी के समर्थन मे ये प्रतिज्ञाए की गई हैं। हम आचार्यश्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी मे पधारने की कृपा करें।"

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अँग्रेजी व गुजराती-सस्करणों में श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने सघ के व्रतो की विवेचना करते हुए सम्पादकीय मे लिखा—"अणुव्रत का अर्थ है—प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमश बढता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह मे विश्वास तो रखता है, लेकिन उसके अनुसार चलने की ताकत अपने मे नही पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढग से सग्रह न करने का संकल्प करेगा और धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर

बढेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश मे हुई। क्वचित् विदेशी पत्रो मे भी इस विषय मे लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई १९५०) मे यह सवाद प्रकाशित हुआ—"अन्य अनेक स्थानो के कुछ व्यक्तियो की तरह एक दुबला, पतला, ठिगना चमकती आँखो वाला भारतीय ससार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। चोतीस वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापथ-समाज का आचार्य है। वह अहिंसा मे विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ मे अणुव्रती-सघ की स्थापना की थी।……जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे, तब शेष ससार को व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रो मे होने वाली इस प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानो ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका यह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियाँ

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, कार्य निष्काम है, अत उससे हर एक व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। जब देश के नागरिको की संकल्प-शक्ति जागृत होती है, तब मन मे मधुर आशा का एक अकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो के उद्‌गार इस बात के साक्षी हैं। उनमे से कुछ ऐसे व्यक्तियो के उद्‌गार यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति-भवन मे एक विशेष समारोह पर बोलते हुए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—"पिछले कई वर्षों से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत मे जब कार्य थोड़ा आगे बढा था, मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज

तक हुआ है; वह सराहनीय है। मैं चाहूँगा इसका काम देश के सभी वर्गों मे फैले; जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरो की भलाई करते हैं, इतना ही नहीं, अपने जीवन को भी शुद्ध करते हैं, अपने जीवन को बनाते हैं। सयम की जिन्दगी सबसे अच्छी जिन्दगी है। इसीलिए हम चाहते हैं कि सब वर्गों मे इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये[1]।"

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में लिखा है—"हम ऐसे युग मे रह रहे हैं; जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे हैं। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश मे अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढावा मिलना चाहिए[2]।"

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"हमे अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यो ही रेत ढह जायेगी, मकान भी ढह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश मे जो काम हमे करने हैं, वे बहुत लम्बे-चौडे हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन मे हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूँ[3]।"

अणुव्रत-सेमिनार मे उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डा० लूथर इवान्स ने कहा—"हम लोग यूनेस्को के द्वारा शान्ति

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ४१
२ अणुव्रत-आन्दोलन
३ अणुव्रत जीवन-दर्शन

के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशसनीय काम कर रहा है। यह बडी खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ कि आपका यह सत्कार्य ससार मे फैले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करे[1]।"

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है—"श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन मे नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ-साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है[2]।"

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"मेरी राय मे यह जनता के नैतिक एव सास्कृतिक उद्धार की दिशा मे पहला कदम है।"

आचार्य जे० बी० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे अपने भाव यो व्यक्त किये हैं—"... मैं मानता हूँ कि व्रतो के बिना दुनिया चल नही सकती। व्रतो को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति सुधार मे विश्वास नही रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मानकर चलता हूँ। व्यक्ति सुधार की प्रक्रिया मे वह वेग और उत्साह नही रहता, जितना सामूहिक सुधार मे रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगो को आकृष्ट कर लेते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे मार्गसूचक बने, ऐसी मेरी भावना है[3]।"

हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं—"सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है, जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नही होता, वह सिद्धान्त कैसा ? मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नही है, अणुव्रत उसका

१ नव निर्माण की पुकार, पृ० ३४
२. नव निर्माण की पुकार, पृ० ५०
३. नव निर्माण की पुकार, पृ० ४५

उदाहरण है। व्रत जीवन मे किनारे जैसे हैं। यदि नदी के किनारे न हो, तो उसका पानी रेगिस्तान मे सूख जाये। किनारे नदी को बाँधने वाले नही होने चाहिए, वे उसको मर्यादा मे रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते है[1]।"

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है—"अणुव्रत-आन्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है, तभी से मैं इसका प्रशसक रहा हूँ। इसके सम्बन्ध में मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातो पर भी विशेष ध्यान देता है। बडी बातें करने वाले बहुत हैं, किन्तु छोटी बातो को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है, यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नही पहुंचा जा सकता, एक-एक कदम आगे बढा जा सकता है[2]।"

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा—"अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनो शुद्ध होते हैं, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओ का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतो का कार्यक्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पडता है।

अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता है। व्रतो की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतो का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतो मे शब्दों का सकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीडा पहुँचाना तो हिंसा है ही; किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है।

---

१ नव निर्माण की पुकार, पृ० ५२

२. नव निर्माण की पुकार, पृ० ५१

अधिकारो का दुरुपयोग भी हिंसा है । कम पैसो से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि । इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते हैं । अणुव्रतियो का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है । आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो, यह मेरी कामना है[1] ।"

उपर्युक्त व्यक्तियो के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति है, जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं । उन सबके उद्गारो का सकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है । यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है ।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय मे जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी है; वहाँ कुछ व्यक्तियो को एतद्-विषयक नाना सन्देह भी हैं । किसी भी विषय मे सन्देहो का होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता । वस्तुत वे बात को अधिक गहराई से सोचने की प्रेरणा ही देते है । सावधान भी करते है । यहाँ आन्दोलन के विषय मे किये जाने वाले कुछ सन्देहो का सक्षेप मे समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१ भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढांचे मे नहीं ढाल सके, तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेंगे ?

इस सन्देह का समाधान यही हो सकता है कि समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नही है । नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी । हरयुग मे इन दोनो का परस्पर सघर्ष चलता रहा है । ससार के रग-मच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की, पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता । जब-जब मानव-समाज मे नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है, तब-तब पतन । एक न्याय, मैत्री और साम्य की सवाहक

---

१ नव निर्माण की पुकार, पृ० ५३-५४

वनकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की सवाहक वनकर अशान्ति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषो का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक वने, किन्तु वे सव यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नही है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिन्त होकर केवल कार्य पर लगें। उससे समाज मे आध्यात्मिता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्यश्री भी अपना पुरुषार्थ इसी दिशा मे लगा रहे हैं। कितना क्या कुछ वनेगा, इसकी चिन्ता न वे करते हैं और न उन्हें करनी ही चाहिए।

२. सारा ससार ही जव भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनो मे फँसा है, तव चन्द मनुष्य अणुव्रती वनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते हैं ?

इसका सक्षिप्त समाधान यह हो सकता है कि सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितान्त अपेक्षित नही है। सफलता सख्या पर नही, भावना पर निर्भर है। ससार के प्राय सभी सुधार थोडे व्यक्तियो से ही प्रारम्भ हुए हैं। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध मे रहे हैं, क्योंकि विचारशील और स्वार्थ-त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते हैं। इसका यह तात्पर्य नही है कि अणुव्रतियो की सख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए, किन्तु यह है कि सख्या को सफलता का मापक यन्त्र नही मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नही है। अत. सत्य-सेवी के लिए वहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-वल पर विश्वास रखते हुए वहु-जन-मान्य अनैतिक विषयो का सामना ही नही, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है, साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियो को सत्य-मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है; जो साथी के अभाव मे अपने वल पर आगे वढने से घवराते हैं।

३. जिस गति से लोग अणुव्रती वन रहे हैं, वह वहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नही सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती वनते रहें तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को

नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है ?

यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिए, किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। सख्या का महत्त्व उसमे गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औपधि की अल्प मात्रा भी प्रभूत परिणाम ला सकती है। उसी तरह अल्पसख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नही किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बंधकर नही चला करती। हजारो व्यक्तियो की सम्मिलित भावना का जब कही एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया मे एक के रूप मे सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधार पर यो समझा जा सकता है कि जब हजारो व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है, तब उनमें से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति, जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है; प्रतिज्ञावद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए भी अवशिष्ट व्यक्ति उस सख्या से बाहर रह जाते हैं। सख्या-समाविष्ट व्यक्ति तो उन हजारो व्यक्तियो का एक प्रतीक-मात्र होता है। इसलिए अणुव्रतियो की सख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नही मान लेना चाहिए। भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाणभूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या, पर शतांश भी उस सस्था के सदस्य नही थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस संस्था के सदस्य थे, केवल उतने ही स्वतन्त्रता के पुजारी थे ? अवशिष्ट व्यक्तियो को स्वतन्त्रता सग्राम से कोई सम्बन्ध नही था ?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हर-

एक व्यक्ति को मान्य होगा ही कि अभाव से तो स्वल्प-भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प-भाव को सर्व-भाव की ओर बढने मे अपनी गति तीव्र करनी चाहिए, इसमें स्वय अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है, परन्तु सर्व-भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प-भाव की कोई आवश्यकता नही है, इस बात से वह सहमत नही हो सकता।

४ अणुव्रतो की रचना मे मुख्यतः निषेधात्मक दृष्टि ही क्यो अपनायी गई है, जब कि जीवन-निर्माण मे विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है।

यो तो विधि मे निषेध और निषेध मे विधि स्वत: गर्भित रहती ही है, फिर भी मनुष्य की आचार-सहिता मे विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए, इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए, यह बतलाया जाये। सीमा या मर्यादा का भावात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है। माता,पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते हैं। 'बिजली को मत छुआ करो' यह कहकर वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते हैं क्या वही 'कमरे की ये-ये वस्तुएं छुआ करो' कहकर कर सकते हैं? सरकारें भी विदेश से जिन-जिन व्यापारो का निषेध करना चाहती है, उन्ही का नाम-निर्देश करती है, किन्तु जो-जो मँगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र प्रसारित नही करती। सरलता भी इसी में है।

५ हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यो नही हो रही है?

भौतिक समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती हैं, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप मे प्रत्यक्ष नही देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलो के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नहीं लगाया जा सकता। भौतिक

और अभौतिक वस्तुओ को एक तुला पर तोलने की तो वात ही क्या की जा सकती है, जव कि भौतिक वस्तुओ मे भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तोला जा सकता है ? अणुव्रत-आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस वात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अत उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तौल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्यपान और धूम्रपान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारो व्यक्तियो को उपर्युक्त दुर्गुणो से दूर कर देना आत्म-शुद्धि के क्षेत्र मे जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि मे आने वाली आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्त्व देता है, जिससे कि जन-मानस मे अध्यात्म का वीज-वपन होता है।

आन्दोलन को आवाज

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज तालाव मे उठने वाली उस लहर की तरह है, जो कि धीरे-धीरे आगे वढती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित हैं, वे सव धीरे-धीरे ही इसके सम्पर्क मे आये हैं। प्रारम्भ काल मे वहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक वार एतद्-विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सवके मस्तिष्क मे यह वात कठिनता से ही वैठ पा रही थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जव तक यह स्थिति मिट नहीं जाती, तव तक आन्दोलन गति नही पकड सकता। वे इस विषय में दूसरो के सुझाव लेने मे भी उदार रहे हैं। जयपुर मे डा० राजेन्द्रप्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। वे उन दिनो भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा और

कार्यक्रम रखा, तो उन्होने कहा कि देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिए। आचार्यश्री ने तब निस्सकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा था कि हम भी यही चाहते हैं, परन्तु इसमे बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं। इससे प्रसार होने मे बहुत बाधाएँ आती हैं।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यो-ज्यो लोग सम्पर्क मे आयेंगे, त्यो-त्यो यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा। बात भी यही हुई। आज प्राय सभी व्यक्ति यह जानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य सम्प्रदाय-भाव से प्रभावित नही है। राष्ट्रपति बनने के बाद डा० राजेन्द्रप्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था—"मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश मे इस आन्दोलन ने सार्वजनिकरूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब लोगो मे ये भावनाएँ नही रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का एक सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है[1]।"

इतना होने पर भी क्वचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डा० राममनोहर लोहिया तथा एन० सी० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियो ने ऐसा अनुभव किया है कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नीव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय मे यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नही है, पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नही चाहता। मानव-मात्र के लिए किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष-विशेष से बँधना ही चाहिए और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षो मे भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते

१. अणुव्रत-आन्दोलन

रहने के कारण आज अणुव्रत-आन्दोलन को सभी दलो का स्नेह प्राप्त है। वह भी अपनी आवाज सभी दलो तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वय ही अभेद मे परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्वलता को समर्थन देना नही है, वह तो हर एक को सवल वनाना चाहता है।

आन्दोलन का मुख्य वल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यो सभी दलो तथा सरकारो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सवकी शुभकामनाएँ तथा सहानुभूति उसने चाही है और वे उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज को गाँवों से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्रपति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

भारत की राज्य-सभा मे सन् ५७ में जव अणुव्रत-आन्दोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे, तव उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री बी० एन० दातार ने कहा था—"इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री नेहरू की शुभकामनाए प्राप्त हैं। आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि यह कार्य सिर्फ भाषणो तक ही सीमित नही रहेगा, अपितु वे साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियो व कर्मचारियो को भ्रष्टाचार से वचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके सचालको की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नही झुके हैं। यही आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सवका मुक्त सहयोग पा सका है।

इसी प्रकार सन् ५९ की फरवरी में उत्तर-प्रदेश की विधान परिषद् मे विधायक श्री सुगनचन्द्र द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया, जिस पर

अन्य सत्तारूढ़ विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तरप्रदेशीय सरकार देश में आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाये गए आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे[1]।"

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा सन्देह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता मांगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा, तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी, पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की मांग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की मांग करता है लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो[2]।"

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जायें।......पैसे की कमी नहीं मान्यवर! पैसा मांगता कौन है[3]?"

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा—"जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं, शायद उनके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है।...लेकिन वह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है, मैं ऐसा समझता हूँ। जहाँ तक इन

१ जैन भारती, १५ नवम्बर, १९५९
२ जैन भारती, २७ दिसम्बर, १९५९
३. जैन भारती, २७ दिसम्बर, १९५९

चीजो का सम्बन्ध है, श्रीमन् मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में सकोच नही है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार ग़लत नही समझती है। और ऐसा भी खयाल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेटिव स्टेप नही है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियो की जजीर है यह धर्म की स्थापना का नया तरीका है[1]।"

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज़ व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनो मे वैचारिक तथा आचारिक सहयोग से बढकर अन्य कोई सहयोग नही हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो ऐसे आन्दोलनो को नष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढाने मे सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नही करता।

इस आवाज़ को जन-जन तक पहुचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों मे अनेक लम्बी-लम्बी यात्राएं की और भारत के अनेक प्रान्तों मे पहुँचे। लाखो व्यक्तियो से साक्षात्कार हुआ। शहरो और गाँवो के व्यक्तियो से आन्दोलन-विषयक चर्चा करने मे ही इनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, रास्ते के गाँवो मे थोडा-थोडा ठहर कर जनता को उद्बोध देना और फिर आगे चल पडना। यह एक ऐसी थका देने वाली प्रक्रिया है कि दृढ निश्चय के विना लगातार ऐसा सम्भव नही हो सकता। अपनी बात को शिक्षितों मे किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितो मे किस तरह रखना चाहिए, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे जितना विद्वानो को प्रभावित करते हैं, उतना ही अशिक्षित ग्रामीणो को भी प्रभावित कर लेते हैं।

उनके शिष्यवर्ग ने भी इस कार्य मे बहुत परिश्रम किया है। अनेक

1, जैन भारती, २४ जनवरी, १९६०

क्षेत्रो मे इनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ किया है। दिल्ली-जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचलो से भरे शहरों मे आन्दोलन की आवाज को घर-घर मे पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी अणुव्रत विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी के निर्देश मे रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज बना दिया। मुनिश्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वत्ता और मुनि महेन्द्रकुमारजी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बडा ही गुण-कारी हुआ है। दिल्ली मे रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है, वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रो मे मुनिश्री गणेशमलजी, मुनिश्री जसकरणजी, मुनि मगनमलजी, मुनि पुष्पराजजी, मुनि राकेशजी आदि साधुओ तथा कस्तूरांजी आदि साध्वियो का परिश्रम भी इस दिशा मे उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती मे उप्त नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी सुपुप्त-अवस्था मे रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियो में उप्त कर दिया जाता है; तो वह अकुरित होकर नये-नये उन्मेप करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारो का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है, वे या तो सुपुप्त रहते हैं या फिर जागृत होकर नये-नये उन्मेप प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ तब साधारण आचार-सहिता के रूप मे उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकलकर कार्य-क्षेत्र मे उप्त हुआ। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो उसमे अनेक नये-नये उन्मेप होते गए।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है और हर पतन अनेक पतनो को। भारतीय जीवन मे जब पुराकाल मे आचरणो के प्रति

सावधानी हुई, तव उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दूकानों मे भी ताला लगाने की आवश्यकता नही रही। लिखी हुई वात का तो कहना ही क्या, किन्तु कही हुई या यो ही सहज भाव से मुँह से निकली वात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई वडी वात नही रही, परन्तु जव उसी भारत मे दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेव मे पडी चीजें भी ग़ायव होने लगी। लिखी हुई वात भी विश्वासनीय नही रही। परमार्थ की वृत्ति मे अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ मे निमग्न हो गए। ऐसी ही स्थिति मे आचार्यश्री ने पुन आचरण-परिशोध की वात प्रारम्भ की तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधो की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था। जो वातें शत-शत वार के कथन से हृदयगम नही हो पाती, वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाएँ दी, वे अन्यथा सुलभ नहीं हो सकती थी।

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदो, गोष्ठियो, प्रवचनो तथा सार्वजनिक भाषणो का क्रम प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियो मे एक नवोन्मेष ही था।

कार्य-क्षेत्र मे भी विविध उन्मेष हुए। दहेज-विरोधी अभियान, व्यापारी-सप्ताह, मद्य-विरोधी तथा रिश्वत-विरोधी कार्यक्रम, ये सव आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विकसित करने मे सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर वर्गीय नियमो के आधार पर विचार-प्रसार का माध्यम वना।

विचारो की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियो को विशेष-रूप मे उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापको और विद्यार्थियो के द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदों की स्थापना हुई। दिल्ली मे यह कार्य विशेष रूप से सगठित हुआ। लगभग पचास हायर सेकण्ड्री स्कूलो मे अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् स्थापित हुई।

उन सबको एक सूत्र मे ग्रथित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियों के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली मे अनेक बार दहेज-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद-प्रतियोगिता आदि आयोजनो द्वारा छात्रो की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया।

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्र मे महत्त्व-पूर्ण स्थान रखती है। उसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप मे प्रतिवर्ष विचारो का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है। अब तक समिति के द्वारा विभिन्न स्थानो पर आचार्यश्री के सान्निध्य मे ग्यारह अधिवेशन किये जा चुके हैं।

आन्दोलन के प्रसारार्थ-आचार्यश्री तथा मुनिजनो का विहार-क्षेत्र ज्यो-ज्यो विकसित हुआ, त्यो-त्यो स्थानीय अणुव्रत समितियो की भी काफी सख्या मे स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत-कुछ काम किया है। उनमे कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशसनीय रहा है, परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकली।

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढाते रहे हैं, वहाँ पीछे से उसकी सार-सँभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के अनेक स्थानो मे स्थापित अणुव्रत समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नही रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नही मिलता।

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है; किन्तु वह सामूहिक सुधार मे भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने

एक वार आन्दोलन का अगला कदम परिवार-सुधार को वतलाते हुए कहा था—"अव हमे व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा मे ही एक कदम है।" आचार्यश्री की इस घोषणा को मैंने राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के सम्मुख वातचीत के सिलसिले मे रखा तो उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था—"अव समय आ गया है जवकि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा मे काम करना चाहिए।" यह १८ जुलाई १९५९ की वात है। आचार्यश्री उसके वाद अपनी घोषणा के अनुसार क्रमशः उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर उन्होंने नये मोड़ के रूप मे समाज के सम्मुख कुछ वातें रखी हैं। इसमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासो के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया है। समाज के ऐसे वहुत से कार्य हैं, जो कि चालू परम्परा से किये जाते हैं, परन्तु आज उनका मूल्य वदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यो के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु सहसा प्राचीन कार्यो को छोड नही पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोडना चाहते हुए भी इज्जत का प्रश्न वना लेते हैं और छोडने के वजाय उनसे चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति सांप-छुछूंदर जैसी वन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापो की वातें सुनते रहे है। उनके विषय मे कुछ कहते भी रहे है। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले सस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सवको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है, परन्तु प्राय. हर व्यक्ति कुछ पुराने सस्कार छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है, यों वह वरावर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ,

कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थो मे हिन्दुओ के क्रिया-काण्डो का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रतिवर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन ५-६ अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानो मे से बहुत से तो केवल पुस्तको मे ही रह गए हैं, फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं, वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन मे सादगी को महत्त्व नही दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नही हो सकेगी। इसीलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव मे सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमे सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानो पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नही बने हैं, वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्राय हर गाँव मे ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं, परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासो के स्थान पर नये विश्वासो को जमाना प्राय सहज नही होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो वह अपने लक्ष्य मे से एक बहुत बड़े कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिणाम में भले ही बहुत कम हो, किन्तु मात्रा मे काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं जो कि विरले ही मिल सकते हैं। एक बार दिल्ली सैण्ट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बन्दी को लिये हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग में उस भाई ने बन्दी से पूछा—क्या तुमने जेल में आचार्यश्री का भाषण सुना था? बन्दी ने कहा—हाँ, सुना तो था, लेकिन वही भाषण यदि कुछ पहले सुन पाता तो मुझे यहाँ आना ही न पड़ता।

इसी प्रकार उत्तरप्रदेश की यात्रा में जब आचार्यश्री हाथरस पधारे तब वहाँ अणुव्रत विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी आदि ने व्यापारियों को प्रेरणा दी और अणुव्रत-आन्दोलन के वर्गीय नियमों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप एक-सौ-नौ व्यापारियों ने मिलावट न करने आदि के नियम ग्रहण किये। उनमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे। इस घटना को दिल्ली में जब मैं पंडित नेहरू से मिला, तब बातचीत के सिलसिले में उनके सामने रखा। वे हृदय-परिवर्तन की इस घटना से जहाँ आश्चर्याभिभूत हुए, वहाँ कुछ जिज्ञासु भी हुए। उन्होंने पूछा कि क्या उन सबके नाम पत्रों में प्रकाशित किये गए हैं? यदि नहीं तो शीघ्र ही वे नाम प्रकाशित होने चाहिए, ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा ले सकें। वस्तुतः वे नाम उत्तरप्रदेश के पत्रों में उसी समय प्रकाशित हो चुके थे।

हृदय-परिवर्तन के ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध तो होते रहते हैं, परन्तु वे संकलित कठिनता से ही किये जाते हैं। अणुव्रत-समिति के वार्षिक अधिवेशनों के समय ऐसे उदाहरणों का संकलन सहज होता है। उस समय अधिवेशन से पूर्व आचार्यश्री के सान्निध्य में एक अन्तरंग-सम्मेलन किया जाता है। उसमें समागत अणुव्रती भाई-बहिन सम्मिलित होते हैं और अपनी-अपनी कठिनाइयाँ सामने रखते हैं। जिसने उन कठिनाइयों का सामना करने में किसी विशेष पद्धति का अनुसरण किया हो तो वह भी दूसरों की सुविधा के लिए सामने रखा जाता है। अणुव्रतियों के उन अनुभवों से पता लगता है कि वे अनैतिकता के सामने डटे हैं। अपने उस कर्तव्य में मानवीय स्वभाव के अनुसार क्वचित् किसी की भूल हो जाना भी स्वाभाविक है, परन्तु वहाँ सबके सामने अनेक व्यक्तियों ने अपनी उन भूलों को भी स्वीकार किया है तथा उसका प्रायश्चित्त किया है। भूल करना बुरा होता है, परन्तु उसे छिपाना उससे भी अधिक बुरा होता है। जहाँ अधिकांश व्यक्ति अपनी भूल को छिपाना चाहते हैं, वहाँ अनेक व्यक्तियों के सम्मुख अपने ही द्वारा उसे स्वीकार

कर लेना, बड़ा साहस का कार्य कहा जा सकता है।

एक ओर अर्थ लाभ हो तथा दूसरी ओर नैतिकता हो, वहाँ अर्थ लाभ को ठुकरा देना बहुत कठिन होता है। किन्तु अनेक सदस्यो ने ऐसा किया है। उनके कुछ प्रेरणाप्रद उदाहरण अवश्य ही यहाँ प्रासंगिक होंगे।

क्या पूजें ?

एक व्यक्ति जब अणुव्रती बनकर अपने मालिक के यहाँ गया और उसने वहीखाते मे गड़बड़ी न करने की अपनी प्रतिज्ञा जाहिर की तो मालिक ने कहा—"यदि ऐसा नही कर सकता तो क्या हम तुझे यहाँ बैठाकर पूजें ?" और उसने उसे अपने यहाँ से हटा दिया। काफी समय तक उसे आर्थिक विपत्तियो का सामना करना पड़ा, किन्तु अब उसका कथन है कि वह विपत्ति ही उसके लिए वरदान बन गई। अब बाजार मे उसकी साख बहुत ऊँची है और इस समय वह पहले से कही अधिक कमा लेता है।

नदी में

इसी प्रकार एक औषधि-विक्रेता के यहाँ दस हजार रुपये का मिलावटी पिपरमेण्ट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी मे बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था, वैसे खपा भी सकता था। पर हजारो रुपयों का नुकसान उठाकर भी उसने ऐसा नही किया।

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अन्य अणुव्रती ने दो सौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लड़ा। लोगो ने कहा—मुकदमा लड़ने पर तो दो सौ की जगह कही दो हजार खर्च होने की सम्भावना होती है, तब फिर ये दो सौ ही क्यो नही दे देते ? उसने कहा—"दो सौ रुपये भी दूं और चोर भी बनूं, यह मुझे मजूर नही।"

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढ़ाने मे आन्दोलन की

सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण-स्वरूप उडीसा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य तथा ग्राम-पचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक वार उसके गाँव मे सवर्ण तथा असवर्ण हिन्दुओं का परस्पर झगडा हो गया और उसमे एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस-अफसर ने पचायत वालो द्वारा जोर डालने पर भी, न जाने क्यो, उस मामले पर विशेष ध्यान नही दिया। उन्ही दिनो सम्वलपुर मे नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ सव-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप मे उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ कांग्रेस-कमेटी मे भाग लेने वाले थे। सयोगवश उन्होने पुलिस-अफसर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्वलपुर-कांग्रेस-कमेटी मे कहूंगा। वस, फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उन्हे फासा और हत्या मे उनका भी हाथ होने के अभियोग मे गिरफ्तार कर लिया। जव ये हिरासत मे थे; पुलिस वालो ने अपने ढग से उन्हें यह जतला दिया कि कुछ देकर वे इस झझट से वच सकते हैं। किन्तु उन्होने रिश्वत देकर छूटने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के वाद वे निर्दोष होकर छूटे। उनका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन मे अवश्य उभरे, पर इस वात का सन्तोष है कि कष्ट सह कर भी रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्वन नही लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिक-चूर्ण का एक वडा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमे लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था; किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नहीं था, अत उसे वह व्यापार ही छोड़ देना पड़ा।

गुड़ की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के वाद कोई भी वस्तु

ब्लैक से नही खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे विना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नही, असम्भव-प्राय ही था, परन्तु वे अपने नियम मे पक्के रहे और गुड़ की चाय पीने लगे। एक वार उनके किसी सम्वन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियो मे एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेन्ट भी थे। चायपार्टी मे वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरो के लिए जहाँ चीनी की चाय आई, वहाँ उसके लिए गुड की चाय मँगायी गई। अतिथि-वर्ग इस विचित्र व्यवहार से चकित हुआ। जव उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे वहुत प्रभावित हुए। उन्होंने तभी से ऐसा प्रवन्ध कर दिया कि उसे प्रति सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावो से मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सप्लाई-क्लर्क को उसके अफसर ने वुलाकर कहा—स्टॉक मे सीमेंट कम है और माँग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियो को सीमेण्ट दिलाना है, अत आप अपनी रिपोर्ट मे अन्य व्यक्तियो की दरख्वास्त पर स्टॉक मे सीमेण्ट न होना लिख देना। क्लर्क ने कहा—श्रीमन्! माफ करें। मैं तो गलत रिपोर्ट नही दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न माँगें। जिन्हें दिलाना चाहे, उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दें, मैं परमिट वना दूंगा। उस अफसर पर इस वात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके द्वारा पेश किये गए कागजो पर उसके वाद विना किसी सशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागो के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इन पर आर्डर लिख देना, मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्ही सव वातो को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य मे काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा मे डटे रहना ही सवसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली मे एक भाई ने नया मकान वनवाया। उसमे आठ दूकानें किराये पर देने की थी। शहर मे दूकानो की प्राय कमी होती है, अत लोग

किराये के अतिरिक्त पगड़ी के रूप मे भी हजारो रुपये पहले देने को तैयार रहते हैं। उस भाई की दूकानो के लिए भी पाँच-पाँच हजार रुपये की पगडी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानो का चालीस हजार रुपया पगडी के रूप मे मुफ्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नही किया और अपनी सारी दूकाने केवल उचित किराये पर ही दे दी।

एक चुभन

एक अणुव्रती भाई की दूकान पर सेल्स-टैक्स-इसपेक्टर आया। उसने कुछ कपड़ा खरीदना चाहा; परन्तु जो कपडा वह चाहता था, वह पहले ही स्टेशन-मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था। वैसा और कपड़ा दूकान मे था नही। दूकानदार ने कहा—आप दूसरा चाहे जो कपडा खरीद लें, पर यह खरीदा हुआ कपडा मैं आपको कैसे दे सकता हूँ? इन्सपेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया, परन्तु उसके मन मे चुभन हो गई। एक बार सेल्स-टैक्स ऑफीसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने बहीखाते दिखाये। वह उस पर फैसला लिखने ही वाला था कि इतने मे वह इन्सपेक्टर वहाँ आ गया और बोला—मैं इस फर्म की इन्क्वायरी करूँगा। ऑफीसर ने कह दिया, कर लो। अब उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स ऑफीसर से हटकर इन्सपेक्टर के हाथ मे आ गया। वह उसे आये दिन तग करने लगा। समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता। वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था। उसे फँसाने के लिए उसने उन सब तारीखो को गुप्त रूप से सगृहीत कर रखा था, जिनमे कि विभिन्न स्थानो से उसकी दूकान पर माल आया था। उसके पास इसका भी पूरा-पूरा ब्योरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और कितना दिया। बहुत दिनो तक वह उसके बहीखाते भी देखता रहा। आखिर कही भी कोई पकड़ वाली बात हाथ न लगी, तब वह स्वय ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ। दूकान-दार के प्रति उसका हृदय भी बदला। आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी

की समाप्ति इन शब्दों मे लिख कर की—"मैंने फर्म के बहीखाते बड़ी सावधानी से देखे हैं। इनमे कही भी गोलमाल नही मिला।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हैं[1], जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन मे निष्ठा उत्पन्न करते हैं और दूसरो को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है। वस्तुतः शुभ सकल्प करना इतना कठिन नहीं होता; जितना कि बाद मे प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज मे न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हर एक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं, परन्तु उन सबको हल करने का एकमात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-आपको इतना दृढ बनाये कि उस पर असत्य का नाग फन मार-मारकर भले ही मर जाये, पर उस पर उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके।

१. इस प्रकार के अन्य बहुत सारे प्रेरणाप्रद सस्मरण अणुव्रत विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी द्वारा 'प्रेरणादीप' नामक पुस्तक में संकलित किये गये हैं।

: ६ :

विहार-चर्या और जन-सम्पर्क

कार्य-कारण भाव

'विहार चरिआ इसिणं पसत्था' इस आगम-वाक्य में ऋषियों के लिए विहार-चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष मे प्राय हर संन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गतिशीलता के साथ पैरो की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषत्कारों ने 'चरैवेति-चरैवेति' सूत्र से केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नहीं, अपितु देशाटन—यायावरता को विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है। जैन मुनियो के लिए तो यह चर्या मुनिजीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को संकुचित कर दिया है; जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता मे परिणत हो गई है, तब भी जैनमुनि उसी प्राचीन परिपाटी के अनुसार पाद-चार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते हैं।

विहार-चर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गाँवों और शहरो मे हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुँचने के लिए एक मात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनो पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नही हो सकता। मुनि-जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यकता होती है, वह इस चर्या के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विशिष्ट उद्देश्य

की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने-आप मे जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता सजोये हुए है। विहार-चर्या और जन-सम्पर्क मे परस्पर कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध है। राजघाट पर आचार्यश्री तुलसी और विनोवाजी का मिलन हुआ। विनोवाजी ने कहा—मैंने भी जैन मुनियो की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है। उनके इस कथन से मुझे लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोवाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनो की स्थितियो मे अन्तर है। विनोवाजी की पदयात्रा उनका व्रत नही है, जब कि आचार्यश्री की पदयात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यो तो प्रत्येक जैन-मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पदयात्री बन जाता है, परन्तु आचार्यश्री की पदयात्राएँ अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिए हुए हैं। वे आज तक जितना घूम चुके हैं, उससे कही अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की त्वरता यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, शिथिल गति से उसकी पूर्ति नही की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह हजार मील चल चुके हैं, परन्तु अब भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है। एक यात्रा समाप्त करते हैं, उससे पहले ही वे अन्य यात्राओ की भूमिका बाँध लेते हैं। वे गुजरात मे 'वाव' गये थे, परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड से थली मे आने से पूर्व ही वापिस मेवाड और उदयपुर पहुँचने की अन्तिम तिथि का निर्धारण उन्होने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन मे एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माँग करता रहता है। वस्तुत यात्रा मे वे अपने-आप को अपेक्षाकृत अधिक ताजा और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-बन्धन करके आये हैं। एक स्थिति मे या एक क्षेत्र मे ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नही किया है। वे गति चाहते हैं, अपने लिए भी और दूसरो के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

शाश्वत यात्री

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हे कही विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हे कोई अधिक कठिन कार्य नही लगता। स० २०१३ मे सरदारशहर से दिल्ली पहुँचे तो प्राय प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता मे थली मे आये तो प्राय प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच मे, क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हे मानो गति मे थकान नही आती, स्थिति मे आती है। इस समय उनके आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष समाप्त हो चुके हैं। उसके पूर्वार्ध मे वे बहुत कम घूमे। उस समय उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु उत्तरार्ध मे वे इतने घूमे कि पूर्वार्ध मे कम घूमने की बात अविश्वसनीय-सी बन गई।

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राएँ प्राय साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई। राजस्थान, दिल्ली, पजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अवशिष्ट प्रान्त सम्भवत उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा मे हैं। आगामी यात्राओ का उनका क्या कार्यक्रम है, यह तो वे ही जाने, परन्तु पिछली यात्राओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं। उनकी यात्राओ को काल-क्रम के हिसाब से चार भागो मे बाँटा जा सकता है—दिल्ली-पजाब-यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत-यात्रा, उत्तरप्रदेश-बिहार-बगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि उनके इस भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नही बैठता, क्योकि यात्री किसी एक निर्णीत स्थान से चलता है और जब पुन. अपने स्थान पर पहुँच जाता है, तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्यश्री के लिए अपना कोई स्थान

नही है। यो सभी स्थानो को वे अपना ही मानते हैं; पराया उनके लिए कोई नही है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारम्भ हो और कहाँ अन्त ? वे शाश्वत यात्री हैं और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए ऐसी यात्रा को आगम 'विहार-चर्या' के नाम से पुकारते हैं। केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

प्रथम यात्रा

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि मे हिंसा, जातीयता, कामुकता, शोपण और सग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड रही थी, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था

चरत भिक्खवे चारिकां, चरत भिक्खवे चारिकां
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

अर्थात्, "हे भिक्षुओ ! बहुत जनो के हित और सुख के लिए तुम पाद-विहार करो।" भिक्षुओ ने पूछा—"भदन्त ! अज्ञात प्रदेश मे जाकर हम लोगो से क्या कहे ?" बुद्ध ने कहा—

पाणी न हंतवो,
अदिन्नं न दातव्व,
कामेसु मुच्छा न चरितव्या,
मुसा न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्वं।

अर्थात्—"प्राणियो की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ। उन्हें इस पंचशील का सन्देश दो।" अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े। उस छोटी-सी घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया-भूखण्ड मे पचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ भी उसी प्रकार की स्थितियो मे हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत मे हिंसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल शून्यता के आसपास ही पहुँच चुका था। देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी। उस समय आचार्यश्री ने अपने शिष्यो से कहा—"साधुओ! स्व-पर-कल्याण के लिए विहार करो और गाँवो तथा नगरो मे पहुँचकर चरित्र-उत्थान का सन्देश दो।" उन्होंने उन सबको पचशील के स्थान पर पच अणुव्रतो की व्यवस्थित रूप-रेखा दी। वे पाँच अणुव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

उन्होंने कहा—"अहिंसा आदि की पूर्णता तक पहुँचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अणुरूप से प्रारम्भ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार मे उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए। अत' तुम ससार को अणु से पूर्ण की ओर बढ़ने का सन्देश दो।" मुनिजन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने मे जुट गए। उत्तर मे शिमला से लेकर दक्षिण मे मद्रास तक तथा पूर्व मे बगाल से लेकर पश्चिम मे बम्बई-महाराष्ट्र तक पद-यात्राओ का एक सिलसिला प्रारम्भ हो गया। अणुव्रतो के घोष से वायुमण्डल मुखरित हो उठा। जनता के सुप्त मानस मे पुन. एक हलचल प्रारम्भ हुई।

आचार्यश्री स्वय भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ऐतिहासिक पदयात्राओ के लिए चल पड़े। सरदारशहर (राजस्थान) मे अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात कर वे राजस्थान के लघु ग्रामों मे वह सन्देश देते हुए वहाँ की राजधानी जयपुर मे आये। वहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को प्राथमिक बल मिला। पत्र-पत्रिकाओ मे उसकी चर्चा हुई। आरम्भकाल था; अत. विविध सन्देहो के बादल भी घिरे। प्रकाश-किरण को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य बादलों मे नहीं होता। वे कुछ समय के लिए उसको धूमिल या मन्द कर सकते हैं, परन्तु आखिर उन्हे हटना

ही पडता है। विरोधो और अवरोधो के बावजूद आन्दोलन का प्रकाश फैला। जनता आकृष्ट हुई, चारो ओर से ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा। आचार्यश्री को अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढता से विश्वास करने का अवसर मिला। वहाँ से वे आगे बढे और अलवर, भरतपुर, आगरा व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरो तथा मार्ग के देहातो की पदयात्रा करते हुए भारत की राजधानी दिल्ली मे पधारे। दिल्ली मे तेरापथ के आचार्यो का यह सर्व-प्रथम पदार्पण था। वहाँ उन्होंने अपने प्रथम भाषण मे ही यह घोषणा की—"मैं अपने सघ की शक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी मे आया हूँ।" तब उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। दिल्ली जैसे हलचल से भरे और आधुनिकता मे पगे शहर के नागरिको को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सन्देश दे सकेगा ? किन्तु धीरे-धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया। आचार्यश्री की आवाज को वहाँ वह बल मिला, जिसकी कि सारे देश तथा विदेशो मे प्रतिक्रिया हुई।

वहाँ से हरियाणा तथा पजाब के विभिन्न स्थानो पर अपना सन्देश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुन दिल्ली आये। यह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। इसमे जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारो तक आपने अणुव्रत-आन्दोलन की विचारधारा को पहुँचाया। इसी यात्रा मे उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे आदि के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियो के विषय मे प्रथम विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति सक्षिप्त शब्दो मे कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह

विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे एक जीवनदायी वरदान लेकर आये हैं।

इस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष बाद आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली मे फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना मे उस समय बहुत बडा अन्तर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा था, तरह-तरह की आशकाओ का सामना करना पड़ा था, साम्प्रदायिक सकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूंजीपतियो का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पडे थे, वहाँ तीसरी बार की यात्रा मे उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम बार ही आचार्यश्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व नैतिक वातावरण मे एक प्रचण्ड हलचल पैदा कर दी थी। इस बार उसकी लहरें और भी अधिक प्रभावक रूप मे सामने आई। यद्यपि यह प्रवास केवल चालीस दिन का ही था, फिर भी इस थोड़े से समय में अणुव्रतो के दिव्य रूप की जो छाप राजधानी के माध्यम से देश तथा विदेश के विचारको पर पडी, वह इस यात्रा की सबसे बडी सफलता थी।

आचार्यश्री के उस पदार्पण का अवसर ही कुछ ऐसा था कि उस समय यूनेस्को-कान्फ्रेंस, बौद्ध-गोष्ठी तथा जैन-गोष्ठी आदि के सास्कृतिक समारोहो के कारण देश-विदेश के कुछ विशिष्ट विचारक पहले से ही राजधानी मे उपस्थित थे। इस स्थिति से आचार्यश्री के सन्देश को उन लोगों तक पहुँचाने के लिए अनायास ही अनुकूलता हो गई थी। लगता है, इस प्रवास के पीछे कोई सुदृढ आन्तरिक प्रेरणा काम कर रही थी। बाहरी प्रेरणा भी कोई कम नही थी। राष्ट्र की आध्यात्मिक और नैतिक स्थिति को देखते हुए देश के सभी विचारक यह अनुभव करते थे कि राष्ट्रोत्थान की अन्य योजनाओ के साथ नैतिक उत्थान का कार्य भी बहुत आवश्यक है। इसी अनुभूति ने उन सबका ध्यान आचार्यश्री और उनके आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। आचार्यश्री द्वारा अनुष्ठित नैतिक

निर्माण की गूंज राजधानी मे निरन्तर सुनी जाती रही। उससे उच्च राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। सम्भवत' इसीलिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुनिश्री नगराजजी से हुई एक मुलाकात मे आचार्यश्री के दिल्ली आगमन विपयक निवेदन किया था। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्य समर्थकों और कार्यकर्ताओ की भी यह प्रवल इच्छा थी कि इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर आचार्यश्री अवश्य राजधानी आयें, क्योंकि वे वहाँ आयोजित होने वाले सास्कृतिक कार्यक्रमो का लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए प्राप्त करने की प्रवल इच्छा रखते थे। राजधानी के अनेक विशिप्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे थे कि स० २०१३ का वर्पाकाल वे दिल्ली में ही वितायें। किन्तु अनेक कारणों से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नही कर सके और उन्होंने वह वर्पाकाल सरदारशहर मे विताया। वहाँ उन लोगो का यह निवेदन रहा कि वर्पाकाल-समाप्ति के तत्काल वाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच जाये तो उन सभी सास्कृतिक कार्यक्रमो तथा जन-सम्पर्क का सहज-प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेप उपयोगी हो सकता है।

आचार्यश्री को उन लोगो का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण वनाने लगे। उन्होने इस विपय मे मुनिजनो से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली यात्रा की घोपणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। आचार्यश्री ने अपने एक प्रवचन मे दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पप्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगो से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियो की प्रार्थना पूरी करना है। वहाँ के नेताओ का भी खयाल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है[1]।"

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमो मे भाग लेना था, उनकी तिथिया काफी पहले से निश्चत हो चुकी थी। उनमे परिवर्तन की गुजायश नही थी। समय वहुत कम था और मार्ग वहुत लम्वा था। सरदारशहर से

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० १०

दिल्ली लगभग दो सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिनों में वहाँ पहुँच गए। जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे, वह आशातीत रूप से परिपूर्ण हुआ। वहाँ यूनेस्को के प्रतिनिधि, बौद्ध-भिक्षु, देश-विदेश के विद्वान्, नैतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों में लगे हुए अनेक प्रचारक, राष्ट्र के धुरीण राजनीतिज्ञ आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनमें अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांसीसी, जर्मनी, जापानी और श्रीलंकावासी लोगों का सम्पर्क अपेक्षाकृत अधिक रहा। उनकी मुलाकात, जिज्ञासाएँ तथा विचार-मन्थन बहुत ही रोचक रूप से चला करते थे। उनमें से कई व्यक्ति तो वहाँ ऐसे भी मिले जो अनन्तर रूप से परिचित तो नहीं थे, किन्तु परम्पर रूप से परिचित थे। उनमें जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी के दो शिष्य—प्रो० हामनाथ और प्रो० हॉफमैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे दिल्ली-प्रवेश के प्रथम दिन ही, जब कि आचार्यश्री वाई० एम० सी० ए० के हॉल में बौद्ध गोष्ठी में सम्मिलित होने गये, बहुत देर से बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते हुए मिले। उनके गुरु प्रो० हरमन जेकोबी जैनागमों के ख्यातनामा विद्वान् थे। वे जब भारत यात्रा पर आये थे, तब लाडणूं (राजस्थान) में अष्टमाचार्यश्री कालूगणी से मिले थे और जैनागमों की अनेक उलझी हुई समस्याओं पर विचार-विनिमय किया था। उन दोनों जर्मन प्रोफेसरों को इस बात की विशेष प्रसन्नता थी कि आचार्यश्री के गुरु और उनके गुरु का जो धार्मिक सम्पर्क हुआ था, वह आज दोनों ही ओर की अगली पीढ़ी में पुनः नवीन हो रहा था।

वह यात्रा न केवल जन-सम्पर्क की दृष्टि से ही सम्पन्न थी, अपितु नाना आयोजनों ने भी उसके महत्त्व को बढ़ा दिया था। अणुव्रत-सेमिनार, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण सप्ताह, मैत्री-दिवस, चुनाव-शुद्धि प्रेरणा, संस्कृत-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी तथा विविध संस्थाओं और स्थानों पर हुए आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यतः अणुव्रत विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। 'अणुव्रत-सेमिनार' का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्यात-

नामा विद्वान् डॉ० लूथर इवान्स ने, मैत्री-दिवस का उद्घाटन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्घाटन प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

दिल्ली के वे चालीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता मे बिताये थे कि उनके पास प्राय. अतिरिक्त समय बच ही नही पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिको की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नही कर सके। उन्होंने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी; अतः उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नहीं था। वह स्वल्पकालीन प्रवास सभी दृष्टियो से इतना प्रभावक रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार श्रीसत्यदेव विद्यालकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दो से की है। जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति सक्षेप में यों कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया।" सत्यदेवजी कहते हैं—"जूलियस सीजर के शब्दो को कुछ बदल कर हम आचार्यश्री की धर्म-यात्राओ का विवरण इन शब्दो मे देने का साहस कर रहे हैं—"वे आये, उन्होने देखा और जीत लिया'[1]।"

इस यात्रा के बाद आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली मे तब गये जब कि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नही था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री आदि से हुई मुलाकातो से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्त्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन सब मे अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

द्वितीय यात्रा

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा सं० २०१० के राणावास मर्यादा-

---

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ६

महोत्सव के वाद प्रारम्भ हुई। कुछ दिन कांठे के गांवो में विचरने के वाद आबू के मार्ग से वे गुजरात मे प्रविष्ट हुए। आबू मे रुघनाथजी के मन्दिर मे ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाडा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरो मे गये। प्राचीन काल के गौरव-मण्डित जैन-इतिहास के साक्षी वनकर खडे ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करते हैं। शान्त और स्निग्ध वातावरण मे प्रशान्त मुद्रासीन मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाड़ा मार्ग मे नही था। टेढे मार्ग से जाना पडा था, अत वापस आबू ही आ गये। आबू राज-स्थानियो की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियो की ओर से किये गये स्वागत का सन्धिस्थल वन गया।

गुजरात मे प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पडने लगी थी। लूएं झुलसाये डालती थीं, तो सूर्य की किरणो का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री वाव पहुँच गये। वाव अव थराद 'सव-डिवीज़न' का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति वहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छ वर्ष पूर्व वाव के श्रावको तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। तव वाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की थी। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्यश्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तव यथावसर वाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्वे समय के वाद अव वह वचन पूर्ण हुआ।

वहाँ से आचार्यश्री अहमदावाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात—तीनो के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है, अत. वर्षाकाल वही व्यतीत करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नही हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री ढेवर भाई की सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नही हुई।

आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन मे जो निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होंने सूरत की ओर प्रस्थान कर दिया।

गुजरात मे तेरापथ के प्रतिष्ठापन में सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म-प्रसार मे जी-जान लगाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगन भाई वही के थे। वहाँ केवल तीन दिन ठहरना हुआ। सम्भवत वहाँ और अधिक विराजते, किन्तु उस क्षेत्र की वर्षाऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुँच जाना आवश्यक समझा गया था। बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्राय. पन्द्रह-सोलह मील चला करते, फिर भी मार्ग मे वर्षा शुरू हो गई। उससे तीव्र गर्मी से तो कुछ छुटकारा मिला, पर दूसरी अनेक दुविधाएँ पैदा हो गई। वर्षा के कारण विहार का समय बिलकुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नही। मार्ग काटना था, अतः कभी मध्याह्न मे और कभी साय लम्बा चलना पडता। नदी-नालो से बचने के लिए रेल की पटरी का मार्ग लिया गया, किन्तु वहाँ ककरो के मारे पैर छलनी हो जाते। नीचे चलते तो वर्षा से भीगी हुई चिकनी मिट्टी पैरों से इतनी मात्रा मे चिपट जाती कि उसका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयो को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बोरीवली' पहुँच गए। तब तक वे लगभग एक हजार मील चल चुके थे। उनकी उद्दिष्ट यात्रा का वहाँ एक भाग सम्पन्न हो गया।

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरो मे रहना हुआ। वर्षाकाल सिक्कानगर मे बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुन सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का वह प्रवास हुआ। इस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनो मे ज्यों-ज्यों कार्य बढा, त्यो-त्यों एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियो द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे थे, जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन से विरोध रखते थे। किन्तु धीरे-धीरे उन लोगो को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-

दृष्टि मे अपने पत्र के महत्त्व को गिरा ही रहे हैं। पिछले महीनो में विरोध की तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के वाद आचार्यश्री ने इस यात्रा का दूसरा चरण प्रारम्भ किया। उस समय उन्हे चौपाटी पर विदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनो ही उद्वेलित थे। एक वायु से तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण मूर्ति उन दोनो की ही समस्याओ को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास मे खडी थी। लोगो के मन मे उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर विरह के भाव उमड रहे थे, किन्तु आचार्यश्री उन दोनो से अलिप्त रहकर अपने पथ पर आगे वढते हुए पूना पधार गए।

पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ सस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी सख्या मे हैं। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियो ने तो अपना जीवन ही इस कार्य मे झोक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सास्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगन्ध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति सक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानो से परिचय की दृष्टि से वह वहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गाँवो मे विहार करते हुए आचार्यश्री एलोरा तथा अजन्ता की सुप्रसिद्ध गुफाओ मे भी पधारे। ये दोनो ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय हैं। ये गुफाएँ वहाँ उस पहाड़ को उत्कीर्ण करके ही वनाई गई हैं। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ वहुत ही कलापूर्ण हैं। उन्हे प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलोरा मे जहाँ जैन, वौद्ध और वैदिक—तीनो ही संस्कृतियों की गुफाएँ तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वहाँ अजन्ता मे केवल वौद्ध मूर्तियाँ ही हैं। वहाँ वुद्ध के जीवन-सम्वन्धी अनेक घटनाएँ-तथा जातक कथाएँ आलिखित तथा उत्कीर्ण हैं। आलिखित चित्रो का रग वहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से

उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हे विभिन्न तीन कोणो से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखलाई पडती हैं। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हे हाथ से बजाने पर तबले की-सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यो तथा पशुओ की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएँ अकित की ही गई हैं, किन्तु बेल-बूटो के भी मनोहारी दृश्य चित्रित है। अजन्ता मे जाने से पूर्व-दिन की रात्रि उन्होने 'व्यू पोइण्ट' पर बिताई थी। 'व्यू पोइण्ट' उस स्थान को कहते हैं, जहाँ से एक अग्रेज शिकारी को अजन्ता की उन विस्मृत गुफाओ का पहले-पहल आभास मिला था।

इस प्रकार आचार्यश्री महाराष्ट्र के प्राकृतिक दृश्यो तथा जालना, भुसावल, जलगाँव, धूलिया, डोडायचा, शाहदा आदि विभिन्न शहरो का समान आनन्द लेते हुए विचरते रहे। लोगो का अनुमान था कि वे इस यात्रा के तीसरे चरण मे बगलौर तक पहुँच जायेंगे। सम्भवत आचार्यश्री का भी कुछ-कुछ ऐसा विचार रहा हो, किन्तु परिस्थितिवश वैसा नही हो सका। वहाँ से वे मध्यभारत की ओर मुड गये। मालव के विभिन्न क्षेत्रों मे विचरते हुए उन्होंने अपनी यात्रा का तीसरा चरण उज्जैन मे वर्षाकालीन प्रवास के द्वारा सम्पन्न किया। उस यात्रा का अन्तिम चरण उज्जैन से गगापुर-पदार्पण था। लगभग आठ महीने तक मालव मे विहरण हुआ। राजस्थान-प्रदेश के साथ आचार्यश्री की यह द्वितीय यात्रा सम्पन्न हुई।

तृतीय यात्रा

आचार्यश्री की तृतीय यात्रा बहुत लम्बी होने के साथ-साथ बहुत महत्त्वपूर्ण भी रही। इस यात्रा मे आचार्यश्री ने अपने कार्य क्षेत्र के लिए नया क्षितिज खोला और नये प्रभाव क्षेत्र का निर्माण किया। भारत के सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रान्त उत्तरप्रदेश, बिहार और बगाल—इस यात्रा के लक्ष्य थे। किसी युग मे इन प्रदेशो मे जैन श्रमणो का बडा महत्त्व रहा था। बिहार तो भगवान् महावीर का मुख्य कार्य-क्षेत्र था ही। राजगृही और वैशाली का महत्त्व उस समय केवल बिहार के लिए ही नही, अपितु सारे भारत के लिए था। आचार्यश्री ने इस यात्रा का निश्चय

किया और राजस्थान की राजधानी जयपुर से विहार करते हुए उधर पधारे। पहले उत्तरप्रदेश ही मार्ग मे आया। समाचार पत्रो द्वारा आचार्य-श्री के पदार्पण का समाचार पाकर वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों की जनता अति उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा करने लगी। जहाँ-जहाँ पदार्पण होता, वहाँ की जनता मे चेतना की एक लहर-सी दौड़ जाती। आचार्यश्री के पदार्पण से पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अनेक क्षेत्रो मे रह कर एक भूमिका तैयार करदी थी। आचार्यश्री वहाँ चरित्र-निर्माण के बीज बिखेरते जा रहे थे। जनता आचार्यश्री के चरित्रोत्थानमूलक कार्यक्रमो मे बडा रस लेती थी। अनेक स्थानो पर स्थानीय अणुव्रत-समितियो का गठन हुआ। आचार्यश्री के मिशन को आगे बढाने के लिए तथा नैतिकता के पक्ष मे उत्पन्न हुए वातावरण को स्थायित्व देने के लिए प्राय सभी लोग उत्सुक थे। आचार्यश्री ग्रीष्मऋतु मे वहाँ खूब विचरे। राजस्थान की लूओ मे पले हुए व्यक्तियो के लिए वहाँ की गरमी यद्यपि अधिक कठोर नही थी, परन्तु वहाँ की लूओ ने राजस्थान को भी पीछे छोड दिया। राजस्थान मे सम्भवत लूओ से इतने व्यक्ति नही मरते होगे, जितने कि उत्तरप्रदेश और विहार मे मरते हैं। वहाँ की लूओ ने एक साध्वी की वलि तो ले ही ली, पर दो-तीन साधुओ को भी एक वार तो उस किनारे के निकट तक पहुँचा ही दिया। यह दूसरी वात है कि वे वच गए। उस गरमी मे जन-कल्याण के उद्देश्य से विहार करते हुए आचार्यश्री ने अपना वर्षा-काल कानपुर मे विताया।

उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ, विद्वत्ता और पवित्रता के लिए प्रख्यात वाराणसी तथा उद्योग-नगरी कानपुर आदि मे जहाँ महत्त्वपूर्ण जन-सम्पर्क हुआ; वहाँ छोटे-छोटे गाँवो मे भी वह कम नही हुआ। पर मानस-सम्पर्क की जहाँ तक वात है, वहाँ शहरो की अपेक्षा गाँव सदैव आगे रहे हैं। शहरों की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दो के क्रमिक विधि-विधानो के माध्यम से वात करती है, वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से ही सरल आडम्वरहीन वात करना पसन्द करती है।

उनका व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नही होता, परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता की भाषा मे बँधता भी नही। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे नजदीक से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो तो उसे 'सहज भक्ति' कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते हैं; परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते है कि उन जैसा धनी शहरो मे चिराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क मे दोनो ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनो की विभिन्न समस्याओं का भी उन्हे पता है। वे उन दोनो के लिए मार्ग-दर्शन देते हैं, अत दोनो के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गए हैं।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बगाल पहुँचने का लक्ष्य सामने था। विहार मार्ग मे पडता था। चरण बढ चले। विहार-भूमि मे प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है। पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रो मे आचार्यश्री गये। नालन्दा मे सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालन्दा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-सस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ यह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा मे बौद्ध तथा जैन विद्वानो द्वारा आचार्यश्री का बडा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह मे जैन-सस्कृति-सम्मेलन रखा गया। उसमे अनेक विद्वानो ने भाग लिया। दोनो श्रमण-परम्पराओं के ये दोनो विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप हैं।

शहरो की स्थिति से वहाँ गाँवो की स्थिति भिन्न थी। गाँवो मे जैन साधुओ को बहुत कम लोग जानते हैं, प्राय. नही ही जानते, अत ठहरने के लिए स्थान आदि की बडी दिक्कतें रहती। डाकुओ का आतक होने के कारण कही-कही आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफिले को भी उसी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कही-कही यह भी स्थान

देने मे वाधक वनता कि इतने व्यक्तियो को कहीं भोजन कराना न पड जाये ? परन्तु उन लोगो का वह भय तव निर्मूल सिद्ध हो जाता, जवकि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गृहस्थ अपनी रोटी आप पकाते। उन लोगो का गाँव पर किसी प्रकार का कोई भार नही होता। रात को आचार्यश्री उपदेश देते, भजन सुनाते, सत्य की प्रेरणा देते और दुर्व्यसन छोडने को उत्साहित करते। लोगो को तव अपने पूर्वकृत व्यवहार पर पछतावा होता। जो लोग पहले दिन स्थान देना तक नही चाहते, वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते।

विहार को पार कर आचार्यश्री वगाल मे प्रविष्ट हुए। सैंथिया मे मर्यादा-महोत्सव मनाया। वहाँ से कलकत्ता पधार गए। वहाँ राजस्थान के जैन वहुत वडी सख्या मे रहते हैं। उनमे अधिकांश आचार्यश्री को वहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्यश्री के साथ थे। कलकत्ता पहुँचने पर कुछ दिनो तक विभिन्न उपनगरो मे रहे और वाद मे वर्षाकाल व्यतीत करने के लिये वडा वाजार क्षेत्र मे आ गए। तेरापथी महासभा भवन मे ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर वनाये गए विशाल अणुव्रत-पण्डाल मे हुआ करता था। प्रतिदिन के प्रवचन मे उपस्थिति प्राय. सात-आठ हजार व्यक्तियो की हो जाया करती थी। रविवार को इससे भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसे व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र मे आर्थिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय मे अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है। वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ वडे उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न वर्ग से लेकर आभिजात्य-वर्ग तक के लोग आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियो को ईर्ष्यालु भी वनाया। ऐसे व्यक्तियो ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण वनाने मे किया। परन्तु इससे आचार्यश्री क्यो घवराते ? वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के बाद वहाँ से वापस चले, तो विहार, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली होते हुए हाँसी मे आकर उन्होंने मर्यादा-महोत्सव किया। वही उस प्रलम्ब यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

चतुर्थ यात्रा

इन विशिष्ट यात्राओ के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप मे मान लिया है। उपर्युक्त तीनो यात्राओं से आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीज़न मे विचरते रहे। वह समय उन्होंने मुख्यत सघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारम्भ की है, अत एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप मे ही देखा गया है।

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कही वह बालूका प्रधान है, कही पर्वत-प्रधान और कही समतल। कही ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है, तो कही खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीज़नो मे ही बहुधा होता रहा है। इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे वे उसी सहज भाव से जाते-आते रहते हैं, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे मे जाता-आता रहता है। कोई दिक्कत, अनभावन या परायापन नही। कोई थकान नही, तो कोई समाप्ति भी नही।

जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क व्यापक है। जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ[1] अर्थात् 'किसी बडे आदमी को जो मार्ग बतलाये वही

१. आचारांग

एक ग़रीब आदमी को भी।' इस आगम-वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तम्भ बनाकर चलते हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किसको कितनी साधना की आवश्यकता है, यह अवश्य व्यक्तिगत स्थितियों पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो की विभिन्न स्थितियो के आधार पर मैंने उनके जन-सम्पर्क को तीन भागों में बाँट दिया है १ साधारण जन-सम्पर्क, २. विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३ प्रश्नोत्तर। साधारण जनसम्पर्क से मेरा तात्पर्य रहा है—बहुधा सम्पर्क मे आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क, इसी प्रकार 'विशिष्ट जन सम्पर्क' से तात्पर्य रहा है—जिनका समाज में विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क मे आ सकते हैं। 'प्रश्नोत्तर' मे देशी-विदेशी जिज्ञासुओ के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गये प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर हैं।

साधारण जन-सम्पर्क

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क मे आते हैं; अपनी बात कहते हैं और मार्ग-दर्शन भी पाते हैं। पारिवारिक कलह से लेकर सामाजिक कलह तक की बातें उनके सामने आती हैं। न्यायालयो मे वर्षों तक जो कलह नही निपटते वे कुछ ही समय मे आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से निपटते देखे गए हैं। कहीं न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उसका कोई क्षोभ नही होता, कलह-निवारण का प्रयास करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं। फैसला हो जाये तो उन्हें उन लोगो से कोई पारिश्रमिक या भेंट लेनी नही है और न हो तो उनके पास से कुछ जाता नही है। निष्काम वृत्ति से जितना होता है या किया जा सकता है, उसी मे वे आत्म-तुष्टि का अनुभव करते हैं। यहाँ उनके साधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाएँ उद्धृत की जाती हैं।

एक पुकार

मेवाड मे भील जाति के लोग काफी बडी सख्या मे रहते हैं। वे अपने-आप को भील के स्थान पर 'गमेती' कहना अधिक पसन्द करते हैं। मेवाड के महाजनो ने उन गरीब तथा भोले लोगो को ऋण आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते हैं। आचार्यश्री जब स० २०१७ मे मेवाड गये, तब 'रावलिया' के आस-पास के गमेतियो ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनो के अत्याचारो के विषय मे चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिख कर लाये थे। उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय मे महाजनो को कहा भी तथा कुछ सन्तो को एतद् विषयक दोनो पक्षो की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोडा भी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार हैं—"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी 'पुजनीक माराज, थला री धरती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका (दुखियो) की पुकार :

तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी···कर सकेगा, गरीब जाति रो हेलो जरूर सुणेगा, यचाव (हिसाब) तो लेगा। धरमराज रो भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोडकर के अरज है के मारी गरीब जाती बोत दुखी है···।" कुछ महाजनो के नाम देकर आगे लिखा है—"फरजी जुटा-जुटा खत माडकर गरीबा रे पास से जमी ले लीदी है और गाया, भैसा, बकर्‌या बी ले लीदी है। बडा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबा ने ५) रुपया देने ५००) रुपया रा खत माडे। सो मारा सब पसा (पचो) री राय है, के ··जलदी सूं जलदी पद मगाकर देकाया जावे, जलदी सूं जलदी फैसला दिया जावैं।

द० दलीग सब जन्ता (जनता) रा केवा सु
(२०१७ जेठ सुद सातम)'[1]

---

१. जैन भारती ६ अक्टूबर १९६०

इस पत्र का भावार्थ है—"आचार्यश्री से दु खियो की पुकार—"हमे विश्वास है कि आप हम गरीबो की पुकार अवश्य सुनेंगे, शीघ्र फैसला कर हमे उचित न्याय दे सकेंगे। गमेती जनता बहुत दु खी है। अमुक-अमुक'''व्यक्तियो ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं, पशु भी ले लिये हैं। झूठे दावे करके कुर्की करा दी जाती है और फिर बलपूर्वक उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँच सौ लिख लिये जाते है, अत हमारे पचो की राय है कि आप हमारा फैसला करें।

हस्ताक्षर—'दलीग' सब जनता के कहने से
(स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला ७)"

हरिजनों का पत्र

मारवाड के काणाना नामक गाँव मे मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियो द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणो मे प्रस्तुत किया गया। उसमे कुछ महाजनो के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की थी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार हैं—"हम मेघवश सूत्रकार जाति जन्म से यही के निवासी हैं। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते हैं। अत उन्हें समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमे हर समय दु ख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते हैं।

साथ ही साथ वे इतनी छूआछूत रखते हैं कि हमे दुकानो पर चढने तक का अधिकार नही। क्या हम मानव-पुत्र नही हैं ?

आपके उपदेश बडे हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशो पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमो की कभी भी अवहेलना नही करेंगे।

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवशी समाज (काणाना)'[1]

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान मे जिक्र किया और यह

---

१ जैन भारती, २३ अप्रैल, १९६१

प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन मे धोखा, अधिक व्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगो के लिए अशोभनीय है। उस व्याख्यान का लोगो पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियो ने अपने-आपको उन दुर्गुणो से बचाने का सकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनो मे भी परस्पर झगड़ा था। वर्षों से वे दो गुटों में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की इस दलबन्दी को तोड़ना चाहते थे। लगभग सवा सौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने आचार्यश्री मे निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नही कर लेंगे; तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि तब तक के लिए अपना व्याख्यान स्थगित रखें। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नही किया। अनेक वर्षो बाद आचार्यश्री आयें और वे प्रवचन भी न करें; यह बात सभी को अखरी। आखिर दोनों पक्षो के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया। गाँव मे पड़े दो तड़ मिट गये।

नाना का दोष

रावलिया मे शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ मे एक चिट्ठी दी।

आचार्यश्री ने पूछा—क्या है इसमें ?

उसने कहा—गुरुदेव ! मेरे नाना और गाँव वालो मे परस्पर कलह चलता है। इस पत्र में उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है।

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढ़ी और उस बालक से ही पूछा—तुझे इसमें किसका दोष मालूम देता है ?

बालक ने कहा—अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगड़ा मिट गया। प्रात. आचार्यश्री के

सम्मुख परस्पर क्षमायाचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पचो की वात ठुकरा चुका था, वही आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल वन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालो मे 'देशी-विलायती' का एक समाज-व्यापी विग्रह उत्पन्न हो गया। वह अनेक वर्षो तक चलता रहा। उसमे समाज को अनेक हानियाँ उठानी पडी। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृखला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षो वाद उसका उपरितन रोप और खिचाव तो ठडा पड़ गया, किन्तु उसकी जड नही गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमे अनेक वार नये अकुर फूटते रहते थे। आखिर वि० स० १९९९ के चूरू-चातुर्मास मे आचार्यश्री ने लोगो को एतद्विपयक प्रेरणा दी। दोनो ही दलो के व्यक्तियो को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनो के प्रयास के वाद उन लोगो ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना की। यह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली मे फैला था और सयोगवशात् चूरू मे ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह वतलाते है कि विभिन्न समाजो के व्यक्तियो पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सव उनके वचनो का कितना आदर करते हैं। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेश मात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा से ही सम्भव है। यह श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

विशिष्ट जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दलवन्दी को अश्रय नही देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते हैं। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ परिचय है। साहित्य-

कारों तथा पत्रकारों से भी बहुधा मानवीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। वे चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं, अत. अनुकूल और प्रतिकूल बातों को समरसता से सुन लेने के अभ्यस्त हैं। दूसरों के सुझावों में से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकड़ते हैं। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञों से बातें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण गृहस्थ से। उनको जितना सहयोग मिला है, उससे कहीं अधिक उनकी आलोचनाएँ हुई हैं, फिर भी उनके सामर्थ्य ने कभी धैर्य नही खोया। तभी तो आलोचनाओं की संख्या घटती गई है और समर्थकों की संख्या बढ़ती गई है। जो व्यक्ति प्रथम सम्पर्क में उनसे बहुत दूरी का अनुभव करते थे, वे ही धीरे-धीरे अति निकट आ गए। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी अपनी प्रथम भेंट के विषय में लिखते हैं—"पहली भेंट में व्यक्ति से नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए।" किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय में लिखते हैं—"उस दिन से मैं तुलसीजी के प्रति अपने में आकर्षण अनुभव करता हूं और उनके प्रति सराहना के भाव रखता हूँ।...उस परिचय को मैं अपना सद्भाग्य गिनता हूँ।" इसी प्रकार आचार्य कृपलानी से भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। सं० २००४ में जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियों की इच्छा रही कि आचार्यश्री से कृपलानीजी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हें रतनगढ़ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही, पर न आचार्यश्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हें संघ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले—"मैंने तो अपना गुरु गांधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझायेंगे?" और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं तो सुनने के लिए नहीं, किन्तु सुनाने के लिए आया हूं। वे लगभग १० मिनट ठहरे होंगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बातचीत के क्रम में कोई सरसता नहीं आ सकी। वे ही कृपलानीजी जब सं० २०१३ में दिल्ली में दुबारा

मिले, तब वह तनाव तो था ही नहीं, अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उसका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी में भी उन्होंने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके बाद सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा—मानो प्रथम भेंटवाले कृपलानी कोई दूसरे ही थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेंट की याद दिलाई तो वे हँस पड़े।

दूरी व्यक्ति से पीछे होती है, पहले मन से होती है। अविश्वास या घृणा उसका माध्यम बनती है। जो न घृणा करता हो और न अविश्वास; वही उस खाई को पाट सकता है। आचार्यश्री ने उसे पाटा है। वे किसी को अपने से दूर नहीं मानते, किसी से घृणा नहीं करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते हैं तथा देते हैं। विचार और विश्वास के आदान-प्रदान की कृपणता उन्हें प्रिय नहीं। इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। जितने व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ है, उनका विवरण बहुत बड़ा है। उन सबका नामोल्लेख कर पाना भी सम्भव नहीं है; फिर भी दिग्दर्शन के रूप में कुछ व्यक्तियों का सम्पर्क-प्रसग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्री और राष्ट्रपति

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति हैं। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् है, उतने ही वे नम्र हैं। आचार्यश्री के प्रति उनके मन में बहुत आदर-भाव है। वे पहले-पहल जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। उस समय वे भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके बाद वह सिलसिला चालू रहा और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशंसक रहे हैं। वे इसे एक सम-योपयुक्त योजना मानते हैं और इसका प्रसार चाहते हैं। आचार्यश्री के सान्निध्य में मनाये गए प्रथम मैत्री-दिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था कि आप यदि अणुव्रत-आन्दोलन में मुझे कोई पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूँगा।

राष्ट्रपतिजी का आचार्यश्री से अनेक वार और अनेक विषयो पर वार्तालाप होता रहता है। उसमे से कुछ वार्ता-प्रसग यहाँ दिये जाते हैं :

राजेन्द्र वावू—इस समय देश को नैतिकता की सवसे वडी आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के वाद भी यदि नैतिक स्तर नही उठ पाया तो यह देश के लिए वड़े खतरे की वात है।

आचार्यश्री—इस क्षेत्र मे सवको सहयोगी वनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सव एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नही है।

राजेन्द्र वावू—राजनैतिक नेताओं की वात आप छोडिये। उनमे परस्पर वहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तुस्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह सँभाला जाये, यह विचारणीय है।

आचार्यश्री—जो नेता-गण आध्यात्मिकता मे विश्वास करते हैं, वे सव सहयोग-भाव से इस कार्य मे लग सकते हैं।

राजेन्द्र वावू—सर्वोदय समाज भी इन कार्यों मे रुचि रखता है, अत आपका उससे सम्पर्क हो सके तो ठीक रहे।

आचार्यश्री—सवके उदय के लिए सवके सहयोग की आवश्यकता है। मैं ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशसक हूँ[1]।

आचार्यश्री और उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्

उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमो मे अच्छी रुचि रखते हैं। स० २०१३ मे जव आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तव उनसे मिले थे। वे अणुव्रत गोष्ठी मे भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नही आ सके थे। जव आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे, तव वार्ताक्रम मे उन्होने कहा भी था कि मैं किसी भी कार्यक्रम मे सम्मिलित नही हो सका।

उसके वाद आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विपयो पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ। उसके कुछ अश इस प्रकार हैं :

१ वार्तालाप-विवरण

डा० राधाकृष्णन्—जैन-मन्दिर मे हरिजन-प्रवेश के विषय मे आपका क्या अभिमत है ?

आचार्यश्री—जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मन्दिर है ? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म मे बाधा डालना मानता हूँ। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक है। जैनो मे मुख्य दो परम्पराएँ है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनो ही परम्पराओ मे दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं—एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्तिपूजक। जैन सम्प्रदायो मे मूर्तिपूजा के विषय मे मौलिक दृष्टि मे प्राय सभी एक-मत है। कुछ एक प्रसगो को लेकर थोडा पार्थक्य है, जो अधिकाश बाह्य व्यवहारो का है और क्रमश. कम होता जा रहा है। अभी जैन-सेमिनार मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो के साधुओ ने भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप मे निमन्त्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण बना था।

डा० राधाकृष्णन्—समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बडी माँग है और इसी के सहारे बडे-बडे काम किये जा सकते हैं।

आचार्यश्री—आपका पहले राजदूत के रूप मे और अब उपराष्ट्रपति के रूप मे राजनीति मे प्रवेश हमे कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे हैं, पर अब आपकी सास्कृतिक रुचियाँ और अन्य कामो को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है, उसमे कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड दे सकता है, क्योंकि उसके पास सोचने का नया तरीका होता है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, सुधार का काम शुरू कर देता है।

डा० राधाकृष्णन्—आज द्रव्य-हिंसा का तो फिर भी कुछ अशो मे निषेध हो रहा है, पर भाव-हिंसा का प्रभाव तो और भी जोरो से चल रहा है, इसके निषेध के लिए कुछ अवश्य होना चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे सक्रिय है।

डा० राधाकृष्णन्—मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नही होता। इसलिए आप जो काम करते हैं, उसका जनता पर स्वत सुन्दर प्रभाव होता है। क्योकि आपका जीवन उसके अनुरूप है[1]।

आचार्यश्री और श्री प्रधानमन्त्री नेहरू

आचार्यश्री का पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक वार विचार-विमर्शन हुआ है। प्रथम वार का मिलन वि० स० २००८ मे हुआ था। उसमे आचार्यश्री ने उन्हे अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्राय. सुनते ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी वार जब वि० सं० २०१३ मे मिलना हुआ तो काफी खुल कर वातें हुई। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—"मैं चाहता हूँ, आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुत यह वातचीत खुले दिमाग से हुई और परिणामदायक हुई।

आचार्यश्री ने वात का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए कहा—"हम जानते हैं कि गाधीजी व आप लोगो के प्रयत्नो से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है, चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियो को छोडकर देश का चित्र खीचा जाये तो वह स्वस्थ नही होगा। यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा? वात ठीक है, पर किया क्या जाये? कोरी वातो से चरित्र उन्नत नही होगा। लोगो को कुछ काम दिया जाये; तव वह होगा। काम से मेरा मतलव वेकारी मिटाने का नही है। काम से मेरा मतलव है, चरित्र-सम्बन्धी कोई काम दिया जाये, यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। हम छोटे-छोटे व्रतो के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं। पाच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि वताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नही दिया।

१ नव निर्माण की पुकार

सहयोग से मतलब हमे पैसा नही लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नहीं है।

प० नेहरू—मैं जानता हूँ, आपको पैसा नही चाहिए।

आचार्यश्री—इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोडना नही चाहता।

प० नेहरू—मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा ?

आचार्यश्री—जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं। हम आपके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाकात मे आपने कहा था—'मैं उसे पढूंगा' पता नही, आपने पढा या नही।

प० नेहरू—मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूं। आन्दोलन के बारे मे मैं कह सकता हूँ।

आचार्यश्री—आपने कभी कहा तो नही, क्या आप इस आन्दोलन की उपयोगिता नही समझते ?

प० नेहरू—यह कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—हमारे सैकडो साधु-साध्वियां चरित्र-विकास के कार्य मे सलग्न हैं। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र मे यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

प० नेहरू—क्या 'भारत-साधु समाज' से आप परिचित हैं ?

आचार्यश्री—जिस भारत-सेवक-समाज के आप अध्यक्ष हैं, उससे जो सम्बन्धित है, वही तो ?

प० नेहरू—हाँ, भारत-सेवक-समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। वह राजनैतिक सस्था नही है। उसी से सम्बन्धित वह 'भारत-साधु-समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले हैं ?

आचार्यश्री—पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत-साधु-समाज से मेरा सम्बन्ध नही है। जब तक साधु लोग मठो और पैसो का मोह नही छोड़ते, तब तक वे सफल नही हो सकते।

प० नेहरू—साधुओ ने धन का मोह तो नही छोडा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था, तुम यह बना तो रहे हो, पर इसमें खतरा है।

आचार्यश्री—जो मैं सोच रहा हूँ, वही आप सोच रहे है। आज आप ही कहिये, उनसे हमारा सम्बन्ध कैसे हो ?

प नेहरू—उनसे आपको सम्बन्ध जोडने की आवश्यकता भी नही है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है, ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।

वार्तालाप की समाप्ति पर पडितजी ने कहा—"आन्दोलन की गतिविधियो को मैं जानता रहूं, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलती रहेगी। मेरी उसमें पूरी दिलचस्पी है'[1]।

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर १९५६ को प्रात.कालीन व्याख्यान के बाद आये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसंग मे जो बातें चली, उनमे से कुछ इस प्रकार हैं .

श्रीमेहता—अणुव्रती व्रत लेते हैं, वे उनका पालन करते हैं या नही; इसका आपको क्या पता रहता है ?

आचार्यश्री—प्रतिवर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन मे अणुव्रती परिषद् के बीच अपनी छोटी-छोटी ग़लतियो का भी प्रायश्चित्त करते हैं। इससे पता चलता है कि वे व्रत-पालन की दिशा में कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते हैं, वे उन्हे दृढता से पालते हैं। अणुव्रतियों मे अधिकांश जो हमारे सम्पर्क मे आते रहते हैं, उनकी सार-सँभाल तो मैं और सौ-सवासौ जगह अलग-अलग घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयो के कारण अगर कोई व्रत नही निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले

१. नव निर्माण की पुकार

अणुव्रतियों का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे हैं, उसमें हमें सभी लोगों के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नहीं है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनों में इसकी चर्चा करते रहें, तो इससे आन्दोलन गति पकड़ सकता है। अतः हम आप से भी चाहेंगे कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।

श्रीमेहता—उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नहीं, क्योंकि हम लोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति में जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नहीं कर सकते और करना भी नहीं चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूं और आगे भी करता रहूँगा।

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—मैं अभी यहां रहने वाला हूं नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में जरूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नहीं होने वाला है। इसके लिए तो खड़े होने वाले उम्मीदवारों और विशेषतः जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अतः आप जनता में भी कार्य करें।

आचार्यश्री—जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारों में भी शुरू करना चाहते हैं[1]।

आचार्यश्री और सन्त विनोबा भावे

आचार्यश्री ने सं० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली में बिताया था। उसके पूर्ण होते ही उन्हें वहां से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वयं भी

१. नव निर्माण की पुकार

उनसे विचार-विनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गाँधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारम्भ हुई। उसके कुछ अश यहाँ दिये जाते हैं :

सन्त विनोबा—श्रमण-परम्परा मे तो पद-यात्रा सदा से चलती ही है, अब मैंने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है।

आचार्यश्री—लोग मुझसे पूछा करते है कि आज के युग मे आप पैदल यात्रा क्यो अपनाये हुए हैं ? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है, वहाँ पैदल चलकर पहुँचने मे समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं उन्हें कहा करता हूँ कि भारत की जनता ग्रामो मे बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत उपयोगी है। आपका ध्यान भी इधर गया है, यह प्रसन्नता की बात है। अब यदि किसी काग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले।

और फिर वातावरण हँसी से गूंज उठा।

सन्त विनोबा—आप प्रतिदिन कितना चल लेते हैं ?

आचार्यश्री—साधारणतया लगभग दस-बारह मील।

सन्त विनोबा—इतना ही लगभग मैं चलता हूँ।

आचार्यश्री—जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती-सघ के रूप मे एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे है ?

सन्त विनोबा—हाँ, मैंने उसे पढा है। आपने अच्छा किया है। अणुव्रत का तात्पर्य यही तो है कि कम से कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ, आप ठीक कह रहे हैं। पूर्ण व्रत की अशक्यता में ये अणुव्रत हैं। नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है।

सन्त विनोबा—अहिसा और सत्य का मेल नही हो पा रहा है; इसी-

लिए अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है। अहिंसा पर जितना बल दिया गया है; उतना बल सत्य पर नहीं दिया गया। यही कारण है कि जैन गृहस्थों में अहिंसा-विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है, उतनी सत्य-विषयक नहीं।

आचार्यश्री—अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परसापेक्ष है। एक के अभाव में दूसरे की भी गौरव पूर्ण पालना नहीं हो सकती। अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार में चलने वाले असत्य का एक प्रबल प्रतिकार है। अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्यमूलक व्यवहार की स्थापना होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा।

अणुव्रत-नियमों में निषेधपरक नियम ही अधिक है। हमारे विचार में किसी भी मर्यादा के विषय में निषेध जितना पूर्ण होता है, उतना विधान नहीं। इस विषय में आपके क्या विचार हैं?

सन्त विनोबा—मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूँ। इसका मैंने कई बार समर्थन भी किया है[1]।

आचार्यश्री और श्री मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय श्री मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्यमन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे, परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अत. वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानों के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया, तब अन्तिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोड़ा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बड़ा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुई, उनमें से कुछ ये हैं :

१ वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री—आप दो बार सभा में आये, पर वैयक्तिक बातचीत नही हो सकी।

श्री देसाई— मैं भी ऐसा चाहता था, परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनो से मैंने धार्मिक उत्सवो मे जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहाँ बुला कैसे सकता था!

आचार्यश्री—धार्मिक कार्यों मे कम भाग लेने का क्या कारण है?

श्री देसाई—मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायो से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे कतई पसन्द नही करता।

आचार्यश्री—जहाँ सम्प्रदाय बढाने की बात हो; वहाँ के लिए तो मैं नही कहता, पर जहाँ असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उससे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है।

श्री देसाई—आप लोग प्रचार-कार्य मे क्यो पडते हैं? सन्तों को तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।

आचार्यश्री—साधुत्व की अपनी मर्यादा मे रहते हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विपयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।

श्री देसाई—बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नहीं लगता। इस विपय मे गांधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था—"आप प्रतिज्ञा दिलाकर लोगो को आश्रम मे रखते हैं। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाए न निभा पाने पर वे उसे छिपकर तोडते हैं।" गांधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बन तो जाते हैं, परन्तु वे इसे ठीक ढग से निभाते हैं, इसका क्या पता?

आचार्यश्री—प्रतिज्ञा के बिना सकल्प मे दृढता नही आती, इसलिए

उसमें मेरा दृढ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा से ही पाली जाती है। बलात् न वह ग्रहण करायी जा सकती है और न पालन करायी जा सकती है। कौन प्रतिज्ञाओं को पालता है और कौन नहीं, इस विषय में मैं उनके आत्म-साक्ष्य को ही महत्त्व देता हूँ।

अणुव्रतों के विषय में आपके कोई सुझाव हो तो बतलाइये।

श्री देसाई—इस दृष्टि मे मैंने अभी तक पढा नही है। अब आपने कहा है, इसलिए इस दृष्टि से पढूंगा और आपके शिष्य मिलेंगे; उन्हे बतला दूंगा[1]।

प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपो मे है कि उन सब की गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आते हैं तो कुछ धर्म-चर्चा के लिए। कुछ उन्हें सुझाव देने के लिए आते हैं तो कुछ मार्ग-दर्शन लेने के लिए। कुछ की बातो मे केवल व्यावहारिक रूप होता है तो कुछ की बातो मे तत्त्व की गहरी जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपो मे अपनी जिज्ञासाएं उनके सामने रखते हैं। आचार्यश्री उन सब की जिज्ञासाओ को शान्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्राय. जिज्ञासुओ को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नही कह रहा; किन्तु उन व्यक्तियो के द्वारा आचार्यश्री के प्रति लिखे गए या व्यक्त किये गए उद्‌गार इस बात के साक्षी है। आचार्यश्री के पास हर किसी को तृप्त करने का एक अमृत रस है, जो कि बहुत कम व्यक्तियो के पास मिलता है। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानो के द्वारा किये गए कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं.

१. वार्तालाप-विवरण

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव एम० ए०, पी-एच० डी० आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमे से कुछ यो हैं .

श्री रामाराव—जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity)। क्रमश वैराग्य का होना कर्म-विमुखता है; अत वैराग्य तथा जीवन का सामजस्य कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—जिस रूप मे आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं, जीवन की वे क्रियाएँ सोपाधिक हैं। जैसे, भोजन करना तब तक आवश्यक है, जब तक भूख का अस्तित्व हो। जिन कारणो से ये सोपाधिक सक्रियताएँ रहती हैं, वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओ की) आवश्यकता नही रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान के निज स्वरूप मे रमण करना, जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप मे सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्यो से (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओ से) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है। उसे मिटाने के लिए त्याग, तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।

श्री रामाराव—समाज-प्रवृत्ति का हेतु है, दूसरो के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अगीकार कर ले तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है : एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सासारिक सुख-साधनो के सचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरो की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति मे केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से; क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है ?

आचार्यश्री—दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी; वस्तुत वह स्वार्थपरता नही है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जायें तो मेरे खयाल मे उसमे दूसरो को हानि की कोई सम्भावना नही होगी।

सभी विकासोन्मुख होंगे। वह स्वार्थ नहीं, परमार्थ होगा। जब कि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की—आत्म-विकास करने की; चेष्टा करता है तो उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा ?

श्रीरामाराव—क्या पुण्य-कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला नही है ?

आचार्यश्री—पुण्य शुभ कर्म है। कर्म-बन्धन है, अत पुण्य भी मोक्ष मे बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—१ क्रिया, २ क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्‌गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते हैं। बुरे कर्म तो स्पष्टत मोक्ष मे बाधक हैं ही। अच्छे कर्मो का फल दो प्रकार का है—उनसे पुराने बन्धन टूटते हैं, किन्तु साथ-साथ मे शुभ पुद्‌गलो का बन्धन भी होता रहता है। बन्धन मोक्ष मे बाधक है।

श्री रामाराव—अच्छे कर्मों से बन्धनो के टूटने के साथ-साथ पुन-बन्धन कैसा ?

आचार्यश्री—उदाहरणस्वरूप बगीचे मे आप घूमने जायेंगे, वहाँ उससे अस्वस्थता के पुद्‌गल दूर होंगे और स्वस्थता के अच्छे पुद्‌गल समाविष्ट होंगे। अच्छी क्रिया मे मुख्य फल आत्म-शुद्धि है, किन्तु जब तक उस क्रिया मे राग-द्वेष का अंश समाविष्ट रहता है, उसमे बन्धन भी है। गेहूँ की खेती की जाती है, गेहूँ के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते है। जब तक वीत रागता नही आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अश मे राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नही होगी, अत बन्धन होता रहेगा।

श्री रामाराव—बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?

आचार्यश्री—ज्यो-ज्यो कषायावस्था का शमन होता रहेगा, त्यो-त्यों

जो क्रियाएँ होंगी; उनमें बन्धन कम होगा; हल्का होगा; आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी; जिसमें सर्वथा बन्धन नहीं होगा; क्योंकि उसमें बन्धन के कारणों का अभाव होगा।

श्री रामाराव—क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन कम होगा?

आचार्यश्री—निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं; किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नहीं होती; तब तक वह निष्कामता नहीं कही जा सकती।

श्री रामाराव—साइकोलोजी (मनोविज्ञान शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं?

आचार्यश्री—आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो है ही; इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता; किन्तु उनके भी वह सूक्ष्म क्रिया होती है; उसे 'योग', 'लेश्या' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

श्री रामाराव—जिनके मन नहीं होता; क्या उनके आत्मा नहीं होती है?

आचार्यश्री—हाँ, आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम ही मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं; उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है; उन्हें अमनस्क कहा जाता है; अर्थात् उनके मन नहीं होता।

श्री रामाराव—क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है?

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की है—सत् प्रवृत्ति तथा असत् प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।

श्री रामाराव—मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार-शक्ति में

मनुष्य कार्यप्रवृत्ति से (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है, किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो संस्कारलभ्य हैं। मनोविज्ञान मे विचारधारा के तीन प्रकार माने गए हैं १. माता-पिता की अपनी सन्तति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरे से वैसी ही रक्षात्मक भावना की मॉग करना, २. घृणित भावनाओ से घृणा करना व उन्हे छोड़ने की प्रवृत्ति करना, ३. उत्तेजक काम-क्रोध वासना आदि। ये तीनो भावनाएँ स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं। इनको सरलतया मिटाया नही जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है, अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलो मे चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये, क्या यह ठीक है ?

आचार्यश्री—तीसरी को रोकने का प्रयास करना बहुत ठीक है। पहली मे प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचार-धारा है, उसको प्रश्रय देना प्रोत्साहन देना उत्तम है[1]।

डा० हर्बर्टटिसि

डा० हर्बर्टटिसि एम० ए०, डी० फिल् आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक हैं। ये डा० रामाराव के साथ ही हांसी मे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं :

डा० हर्बर्टटिसि—लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालो मे ऐसी भाव-धारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते है, वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमे अविश्वास या भूल की कोई गुजायश नही। किन्तु इस पर लोगो ने यह शका की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय मे ऐसा

१. तत्त्व-चर्चा से

मानते हैं ? अर्थात् वे जो कुछ कहते हैं, वह एकान्तत स्खलन-शून्य ही होता है ?

आचार्यश्री—यद्यपि सघ के लिए, अनुयायियो के लिए आचार्य ही एक मात्र प्रमाण है। उनका कथन—आदेश सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है, किन्तु हम ऐसा नही मानते कि आचार्यो से कभी भूल होती ही नही। जब तक सर्वज्ञ नही होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते हैं।

डा० हर्वर्टटिसि—क्या कभी ऐसा काम पड सकता है, जब कि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमो मे परिवर्तन किया जा सके ?

आचार्यश्री—ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के लिए ऐसा विधान करते हैं कि देश, काल, भाव, परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमो मे परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते हैं। किन्तु साथ-साथ मे यह ध्यान रहे—धर्म के मौलिक नियमो मे परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नही है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील हैं।

डा० हर्वर्टटिसि—क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?

आचार्यश्री—हाँ, जीव पुद्गलो को अनुकूल-प्रतिकूल अनुवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्ध भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलो पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

डा० हर्वर्टटिसि—जीव मनुष्य के शरीर मे कहाँ है ?

आचार्यश्री—शरीर मे सर्वत्र व्याप्त है। कही एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नही। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जब शरीर के किसी भी अग-प्रत्यग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीडा अनुभव होती है।

डा० हर्वर्टटिसि—जब सब जीव ससार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा ?

आचार्यश्री—विना योग्यता व साधनो के सब जीव कर्म-मुक्त नही हो सकते। जीव सख्या मे इतने हैं कि उनका कोई अन्त नही है। उनमे से वहुत कम जीवो को वह सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जब कि ससार की स्थिति यह है कि करोडो लोगो मे लाखो शिक्षित हैं, लाखो मे हजारो विद्वान् या कवि हैं, हजारो मे भी ऐसे वहुत कम हैं, जो स्वानुभूत वात कहने वाले तत्त्वज्ञानी हो। तव अध्यात्मरत योगी ससार मे कितने मिलेंगे, जो ससार-भ्रमण शेप कर लेते हैं[1]?

डा० फेलिक्स वेल्यि

प्राच्य सस्कृति विपयक उच्चतर अध्ययन के लिए एक विद्या-सस्थान के प्रतिष्ठापक तथा सचालक डा० फेलिक्स वेल्यि द्वारा किये गए प्रश्नो के उत्तर इस प्रकार हैं

डा० वेल्यि—योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री—मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियो के विकास के लिए व इन्द्रिय-विजय के लिए उसका व्यवहार होता है।

डा० वेल्यि—इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री—आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होना एव आत्मा के निर्वाण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना, इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है।

डा० वेल्यि—ज्ञान व चरित्र इन दोनो मे जैनो ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?

आचार्यश्री—जैन-दृष्टि मे ज्ञान और चरित्र-निर्माण, दोनो समान महत्त्व रखते हैं।

डा० वेल्यि—जैन-योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री—जैन-योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

डा० वेल्यि—काम-विजय के सक्रिय उपाय कौन-से हैं ?

आचार्यश्री—मोहजनक कथा न करना, चक्षु-सयम रखना, मादक

१. तत्त्व-चर्चा से

व उत्तेजक वस्तुएँ न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण मे न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियो मे लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय हैं।

डा० वेल्यि—क्या जैन विवाह को एक धर्म-सस्कार मानते हैं? विवाह-विच्छेद-प्रथा के प्रति जैनो का दृष्टिकोण क्या है?

आचार्यश्री—जैन विवाह को धर्म-सस्कार नही मानते। विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज मे नही है। जैन लोग उक्त प्रथाओ को धर्म मे सम्मिलित नही करते।

डा० वेल्यि—जैन साधुओ मे परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नही?

आचार्यश्री—आत्म-साधन एव अध्ययन के क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा होती है। यश-प्राप्ति की स्पर्धा वैध नही है। यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

डा० वेल्यि—क्या धर्मगुरु से कभी कोई गलती नही होती? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं? क्या औषधोपचार भी विहित है? क्या उन्हे स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है?

आचार्यश्री—गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना मे कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि मे सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सन्तोष है। इसकी गुरु मे कमी नही होती। शारीरिक स्थिति के बारे मे कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियो पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले, यह बात आवश्यक नही।

साधु को शारीरिक व्यथाएँ होती है और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औषधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।

डा० वेल्यि—ससार के प्रति साधुओ का कर्तव्य क्या है?

आचार्यश्री—हमे विश्व के दु ख के जो मूल-भूत कारण है, उन्हे नष्ट

करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना; अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना साधुओ का लक्ष्य है।[1]

श्री० जे० आर० वर्टन

आचार्यश्री वम्वई के उपनगरो मे थे, तव दो अमेरिकन सज्जन श्री जे० आर० वर्टन और श्री डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। ये विभिन्न धर्मों की अन्तर्-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई देशो मे भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप-प्रसग इस प्रकार हुआ.

श्री वर्टन—मैंने वौद्ध दर्शन मे यह पढा है कि तृष्णा या आकांक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन दर्शन की इस विषय मे क्या मान्यता है ?

आचार्यश्री—जैन धर्म मे भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने मे ये दोष वडे वाधक हैं।

श्री वर्टन—ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध मे आपका क्या खयाल है ?

आचार्यश्री—अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म-तत्त्वो के सम्बन्ध मे जो कुछ उन्होंने कहा है, वह हृदयस्पर्शी है।

श्री वर्टन—क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं ?

आचार्यश्री—हमारा कार्य तो धर्म के सत्य तत्त्वों के प्रति व्यक्ति के मन मे श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा पथिक वनाना है। कही भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा करने का अधिकारी है। एक मात्र वाहरी रंग-ढंग को वदलने मे मुझे श्रेयस् प्रतीत नही होता, क्योकि धर्म का सीधा सम्वन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार से है।

श्री वर्टन—श्रद्धा का क्या तात्पर्य है ?

---

१. जनपद विहार पृष्ठ २३से२६

आचार्यश्री—सत्य विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

श्री वर्टन—सत्य विश्वास किसके प्रति ?

आचार्यश्री—आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वो के प्रति।

श्री वर्टन—क्या कर्तव्य ही धर्म है ?

आचार्यश्री—धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर सब कर्तव्य धर्म नहीं। सामाजिक जीवन मे रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पड़ते हैं, जो धर्मानुमोदित नही होते। समाज की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं, पर अध्यात्म-धर्म नही। आत्म-विकास उनसे नही सधता[1]।

श्री० वुडलेंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलैण्ड व्हेलर जो शाकाहार एव अहिंसावादी लोगो से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत मे आये थे, वम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। श्री व्हेलर ने कहा कि भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन धर्म मे विशेष रूप से आमिषवर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से, तथा मुख्यतः जैनो से, हमारा एक सहज सम्बन्ध एव आत्मीय भाव जुड जाता है।

आचार्य प्रवर के साथ श्री व्हेलर का जो वार्तालाप हुआ; उसका सारांश यो है :

श्री व्हेलर—रूस विश्व की उलझनों अथवा समस्याओ के लिए साम्यवाद के रूप मे जो समाधान प्रस्तुत करता है, उसके सम्बन्ध मे आपका क्या विचार है ?

आचार्यश्री—साम्यवाद समस्याओ का स्थायी और शुद्ध हल नहीं है, वह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओ का एक सामयिक हल है। आर्थिक समस्याओ का सामयिक हल जीवन की समस्याओ को सुलझा सके, यह

१. जैन भारती, २८ नवम्बर, १९५४

सम्भव नही ।

श्री व्हेलर—क्या राजनैतिक विधि-विधानो से लोक-जीवन की बुराइयो और विकृतियो का विच्छेद हो सकता है ?

आचार्यश्री—विकारो अथवा बुराइयो के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन । विकारो के प्रति व्यक्ति के मन मे घृणा और परिहेयता के भाव पैदा होने से उसमे स्वत परिवर्तन आता है । हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती हैं, वे स्थायी रूप से छूटती हैं और कानून या डण्डे के बल पर जो बुराइयाँ छुडायी जाती है, वे तब तक छूटी रहती हैं, जब तक विकारो मे फँसे व्यक्ति के सामने डडे का भय रहे ।

श्री व्हेलर—ससार मे जो कुछ दृश्यमान है, वह क्षणभगुर है, नाशवान् है फिर व्यक्ति क्यो क्रियाशील रहे, किसलिए प्रयास करे ?

आचार्यश्री—दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं, भौतिक सुख क्षण-विध्वसी हैं, पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्तन और अविनश्वर है । उसी के लिए व्यक्ति को सत्कर्मनिष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है । भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नही है । चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, आत्म-विशोधन ।

श्री व्हेलर—दूसरे लोगो मे जो बुराइयाँ हैं, उनके विषय मे आप टीका करते हैं या मौन रहते है ?

आचार्यश्री—वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नही है । पर सामुदायिक रूप मे बुराइयो पर तो आघात करना ही होता है, जो आवश्यक है ।

श्री व्हेलर—मनुष्य जो कर्म करता है, क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?

आचार्यश्री—ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है । व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसका फल स्वय उसे मिलता है । सत् या असत् जैसा कर्म वह करेगा, वैसा ही फल उसे मिलेगा । फल-परिपाक कर्म का

सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत-बन्धन हैं, निर्विकार हैं, स्वस्वरूप मे अधिष्ठित हैं। कर्म-फल प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव[1]?

डानेल्ड-दम्पति

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैंप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्ताओ के साथ जलगाँव मे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। उनका वार्तालाप-प्रसग निम्नाकित है.

श्रीमती कैंप—बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन विताता है।

आचार्यश्री—हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है; जो अपने जीवन मे अन्याय को प्रश्रय नही देता।

श्रीमती कैंप—प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है।

आचार्यश्री—भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह वह सवको प्रिय है। सब जीव जीना चाहते हैं, इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरो के प्राण हरो। इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो विभिन्न धर्मों में समन्वय बताती हैं।

श्री कैंप—संसार मे व्याप्त अशान्ति और दु ख का कारण क्या है?

आचार्यश्री—आज का संसार भौतिकवाद मे बुरी तरह फँसा है। परिणामस्वरूप उसकी लालसाएँ असीमित बन गई हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नही आता। अध्यात्म; जो शान्ति का सही तत्त्व है, वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, आज के सघर्ष और अशान्ति का यही कारण है।

श्री कैंप—हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो पापमय—पापो को लिये हुए पैदा होता है।

आचार्यश्री—हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो

---

१. जैन भारती, २० फरवरी, १९५५

पाप और पुण्य दोनो लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नही लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएँ कैसे मिलती ?

श्री कैंप—जो प्रभु यीशू की शरण मे आ जाते हैं; उनकी मान्यता रखते हैं; उनके पापों के लिए वे पेनैल्टी (दण्ड) चुका देते हैं।

आचार्यश्री—तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा ? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करने वाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति नही है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कर्मो पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वय उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष ? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।

श्री कैंप—मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग खुद कुछ नही कर सकते, सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते हैं।

आचार्यश्री—इसमे हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत्-असत् के स्वय उत्तरदायी हैं और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है। किसी दूसरी शक्ति से नही[1]।

१. जैन भारती, २९ मई, १९५५

: ७ :

महान् साहित्य-स्रष्टा

आचार्यश्री जहाँ एक सफल आध्यात्मिक नेता तथा कुशल संघ-संचालक हैं; वहाँ महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया मे एक अतुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकान्त तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-संकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते हैं और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवत. उनको इसलिए बना लेना पड़ा है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नही छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमे बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

उनका साहित्य पद्य और गद्य; दोनो ही रूपो मे है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी, हिन्दी तथा संस्कृत में लिखते हैं। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और संस्कृत को भी उन्होंने मातृभाषावत् ही बना लिया है। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि अगो मे विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनों के संग्रह भी स्वतन्त्र कृतियो के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

काव्य-साहित्य मे उन्होंने राजस्थानी तथा हिन्दी मे अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। राजस्थानी मे 'श्रीकालू यशोविलास', 'माणकमहिमा', 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'श्रीडालिमचरित्र', 'उदाई', 'गजसुकुमाल' तथा 'सुकुमालिका'

आदि प्रमुख हैं। हिन्दी ग्रन्थो मे 'आषाढभूति', 'भरत-मुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'श्रद्धेय के प्रति' तथा 'अणुव्रत गीत' आदि उपदेशात्मक, भक्त्यात्मक तथा प्रेरणात्मक गीतो के विभिन्न सकलन हैं। यहाँ कुछ उद्धरणो द्वारा उनके काव्य-साहित्य का रसास्वादन करा देना अप्रासगिक नही होगा।

श्रीकालू यशोविलास

श्रीकालू यशोविलास मे तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी भाषा राजस्थानी है, किन्तु कही-कही गुजराती से भावित है। इसका कारण सम्भवत यह है कि प्राचीन काल मे दोनो प्रदेशो का तथा उनकी भाषाओं का निकट-सम्बन्ध रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुजराती भाषा के जैन-ग्रन्थ राजस्थान मे विहार करने वाले साधु-साध्वियो द्वारा भी बहुधा पढे जाते रहे है और उससे उनकी कृतियो मे भी भाषा का मिश्रण होता रहा है। तेरापथ के आद्य आचार्य स्वामी भीखणजी तथा चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य के साहित्य मे—एटले, माटे, शुछे, एम, केटला आदि गुजराती भाषा के अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। आचार्यश्री ने 'श्रीकालू यशोविलास' मे उसी प्राचीन परम्परा को प्रयुक्त किया है। इसमे उन्होंने हिन्दी का भी प्रयोग किया है। वस्तुत वे पहले-पहले भाषा के विषय मे काफी मुक्त होकर चले हैं। इसमे विभिन्न भाषाओ के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही है, किन्तु पद्य की सुविधा के लिए शब्दो का अपभ्रश भी किया गया है। उनके राजस्थानी तथा हिन्दी के कुछ प्रथम ग्रन्थो मे यह क्रम रहा है, परन्तु 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की प्रशस्ति से यह बात सिद्ध होती है कि बाद मे स्वय उनको यह मिश्रण खटकने लगा। वे कहते हैं

पर प्राचीन पद्धती रै अनुसार जो,
भाषा बणी मूंग चावल री खीचडी।

वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
तो श्रवगी बोली मिश्रत बैठी सही ॥

यहाँ हिन्दी को 'खड़ी बोली' कहा जाता रहा है, अतः 'बैठी बोली' से आचार्यश्री का तात्पर्य राजस्थानी से है। इस अनुभव ने आचार्यश्री की आगे की कृतियों पर काफी प्रभाव डाला है। उनमें भाषा का मिश्रण न होकर विशुद्ध किसी एक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'श्रीकालू यशोविलास' विभिन्न मधुर लयों में निबद्ध है। उसमें प्रसंगानुसार ऋतुओं, स्थानों तथा मनोभावों का अत्यन्त कुशलता से वर्णन किया गया है। घटनाओं का तथा उस समय तक स्वयं लेखक का भी राजस्थान से ही अधिक सम्पर्क रहा था। अतः उसमें राजस्थान के अनेक स्थलों का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें होने वाली हैरानियों का लेखा-जोखा तथा गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन का भेद उपस्थित करते हुए उन्होंने ग्रीष्म-ऋतु की सजीव अभिव्यक्ति इस प्रकार की है:

ज्येष्ठ महीनो हो ऋतु गरमी नों, मध्यम सीनो हो हिवे हठ भीनों ।
लूहर झालां हो अति विकराला, वह्नि ज्वाला हो जिम चोफालां ॥
भू थई भट्टी हो तरणी तापे, रेणू कट्ठी हो तनु संतापे ।
अजिन, रु अट्ठी हो मट्टी व्यापै, अति दुरघट्टी हो घट्टी मापे ॥
स्वेद निझरणा हो रूं-रूं झारें, चीवर कर नां हो लूह-लूह हारें ।
तनु पे उघडै हो फुंसी-फोडा, भू पे उघडै हो जिम भूंफोडा ॥
जैन-मुनी नो हो मारग झीणो, भव्य प्रवीणो हो धोवण पीणो ।
न्हावण-धोवण हो अश न करणो, आतम-तपावण हो विरू सदरणो ॥
मलिन दुकूला हो कड़-कड़ बोलै, जंघा चूलां हो छड़-छड छोलै ।
अति प्रतिकूला हो पवन झकोलै, जिम कोई शूलां हो अग खबोलै ॥
कोमल काया हो पासे माया, जननी जाया हो बाहर नाया ।
भूंहरें घर कै हो पोढै खाटां, जलस्यूं छिडकै हो खस-खस टाटा ॥
मंदिर मूंदी हो खोलै पखा, कर धर तुंदी हो सोत निशंका ।

विद्युत योगे हो जल सीतलियो, बरफ प्रयोगे हो वा सो गलियो ।।
हृदय उमावै हो वलि-वलि न्हावै पान करावै हो दिल सुख पावै ।
जो घवरावै हो सेंट छिटावै, ज्यादा चावै हो सिमलै जावै ।।

—श्रीकालू यशोविलास, तृतीय उल्लास; गीतिका १७, २४ से ३१

यहाँ कवि ने ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म-ऋतु का हृदय कहा है। वे कहते हैं—"उस समय लू अग्नि-ज्वाला की तरह होती है और सूर्य के ताप से वह भूमि भट्टी के समान उत्तप्त हो उठती है। रज करण शरीर को सन्तप्त ही नही करते, अपितु त्वचा और यहाँ तक कि अस्थियों तक पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। वैसे समय की घड़ियाँ घड़ी के भाव से कुछ वड़ी ही लगती हैं। स्वेद रोम-रोम से फूटकर झरनों की तरह बहता है जिन्हें पोछते हुए हाथ के वस्त्र—रूमाल वेचारे थक जाते हैं। भूमि पर वर्षा के समय भूँफोडे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ग्रीष्म मे शरीर पर फुन्सी और फोडे उठ आते हैं। ऐसी स्थिति मे जैन मुनियो का कठिन मार्ग और भी कठिन हो जाता है। अचित्त जल की स्तोकता, अस्नान-व्रत तथा दुकूलो की प्रतिकूलता इस प्रकार से दु खद हो जाती है कि मानो कोई शरीर मे शूलें चुभो रहा हो। दूसरी ओर धनिक व्यक्तियो का दूसरा ही चित्रण सामने आता है। वे उस ऋतु मे बाहर तो निकलते ही नहीं, अपितु भूमिगृहो मे लू से छिप कर सो जाते हैं। खस की टट्टियाँ छिडकी जाती हैं, पखे चलते हैं, विद्युत या वर्फ के प्रयोग से शीतल किया गया जल पीते है, अनेक वार स्नान करते हैं, सुवासित रहते हैं। इतने पर भी यदि गर्मी का कष्ट प्रतीत होता है तो शिमला आदि पहाडी स्थानो मे चले जाते हैं।" ग्रीष्मकाल के समय परस्पर-विरोधी इन दो जीवन-चित्रो को उपस्थित कर कवि ने एक ही ऋतु में भोगियो और त्यागियो की प्रवृत्तियो का अन्तर अत्यन्त सहजता से स्पष्ट कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर वे मारवाड प्रदेश के 'कांठा' (सीमान्त) का वर्णन इस कुशलता से करते हैं कि वहां के वातावरण का समग्र दृश्य

एक साथ आँखो के सामने नाचने लग जाता है। वे कहते है.

हती विछायत ठाम-ठाम बांवल कांटा नी,
रात-विरात खटाखट उठती ध्वनि रांठा नी।
मेदपाट पड़ौस ठोस रचना घाटा नी,
ठोर-ठोर धव, खदिर, पलास, रास भाटां नी।
अलप ऊडिया कूप सूंडिया कानी-कानी,
जास प्रसाद निभाली विषमी गति वृषभां नी।
समी जमीं जल कोरा घोरा सींचे पानी,
तेहथी निपजे नाज, साज नहि बीजो जानी।

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास; गीतिका १०, १ से ४

अर्थात् "हर गाँव मे वबूल के कांटो की बहुलता है। रात्रि की घनीभूत शून्यता मे भी अरहट की ध्वनि अपनी खटाखट सुनाती रहती है, पडोसी प्रदेश मेवाड के अरावली पर्वत की घाटियाँ ऊँची दीवार-सी खडी दिखाई देती हैं, उनकी उपत्यकाओ मे स्थान-स्थान पर धव, खदिर और पलाश वृक्षो की पक्तियाँ खडी हैं तथा पत्थरो के ढेर लगे हैं। हर गाँव के चारो ओर ऊंचे पानी वाले कूंएं, उनमे से पानी निकालने के लिए शूंडनुमा चडस, उन्हे खीचने के बाद उल्टी गति से चलते हुए बैल, एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित करते है। वहाँ की सीधी सपाट भूमि को सीचने के लिए अपनायी गई इस व्यवस्था से वहाँ की जल-प्रणालियाँ पानी से भरी बहती हैं। वहाँ के व्यक्ति केवल उसी के आधार पर अन्न पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई यान्त्रिक अथवा प्राकृतिक सहयोग उन्हे प्राप्त नही है।" यह सारा वर्णन मारवाड़ के सीमान्त का तथा वहाँ के निवासियो के जीवन-क्रम का सक्षेप मे परिपूर्ण तथा रोचक दृश्य उपस्थित कर देता है।

एक जगह राजस्थान के सुप्रसिद्ध अरावली तथा वहीं के वन्य वातावरण को वे इस प्रकार से अभिव्यक्ति देते हैं.

चहुँ ओर चगी जुडी झगी भारी, जहू जगी अगी घटां री जटां री ।
कहीं निंब कादंब जबाब झारी, खरी शूल बबूल जीहा जमां री ॥
कहीं खखराटी हुवै खखरांरी, कहीं घघरारी हुवै घघरां री ।
धहूड़ा लहूडा महूडा मरारी, कहीं वट पूरां फबूरां वरां री ॥
किते फेंतकारां फरक्कत्त फेर, किते फुंफणारा भरक्कत्त एर ।
किते घूक सघाट घुग्घाट घेरु, किते बुक्क बुक्काट केरु अनेरु ॥

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास, गीतिका १२, १४ से १६

इन वर्णन में भाषा का राजस्थानी रूप डिंगल से प्रभावित है।' जंगल की गहनता और भाषा की गहनता एक साथ हो गई है। अनु-प्रासों का बाहुल्य उस गहनता को और भी बढ़ा देता है। वे कहते हैं— "चारों ओर एक दूसरे से सटकर खड़े हुए वृक्षों से जहाँ वह अरण्य गहन बना हुआ है, वहाँ उसे बड़े-बड़े वट-वृक्षों की जटाओं ने और भी गहन बना दिया है। उस-अटवी में जहाँ सर्वनित् निम्ब, कदम्ब और जम्बू जैसे वृक्ष भी दिखाई देते हैं, वहाँ अधिकांश कंटीली झाड़ियाँ-ही-झाड़ियाँ तथा यम की जिह्वा-जैसे अपने शूलों को लिये बबूल-ही-बबूल खड़े हैं। धावड़े, खाखरे, महुडे और थूहर आदि वृक्षों में तथा वन्य पशुओं के विभिन्न प्रकार के शब्दों से वह घाटी अत्यन्त विकट प्रतीत होती है।" इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीकालू यशोविलास' आचार्यश्री की एक विशिष्ट कृति है। उसमें प्रकृति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं के सजीव वर्णन के साथ-साथ जीवनी का प्रवाह चलता है। कहीं-कहीं उस प्रवाह में पाठक को तब रुकावट भी प्रतीत होती है, जब कि बीच-बीच में दीक्षाओं तथा अन्तर्-घटनाओं का वर्णन आने लगता है। आचार्यश्री की यह कृति वि० सं० २००० में पूर्ण हुई थी।

माणक-महिमा

माणक-महिमा में तेरापथ के षष्ठ आचार्यश्री माणकगणी का जीवन वर्णित है। यह श्रीकालू यशोविलास के काफी बाद की रचना

है। स० २०१३ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को इसकी पूर्ति हुई थी। अपेक्षाकृत यह काफी छोटी रचना है। इसमे तेरापथ के श्रमण-समुदाय की गतिविधियो का वर्णन विशेप रूप से किया गया है। श्रमण-सस्कृति वस्तुत शान्ति, समानता और श्रम के आधार पर चलने वाली संस्कृति है। प्राकृत के 'समण' शब्द से शम, सम और श्रम—ये तीनो एक रूप हो जाते हैं। इसलिए साधुओ की दिनचर्या मे भी इन तीनो की व्याप्ति हो जाना आवश्यक है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए एक जगह साधुओ की दिनचर्या का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं

शम, सम श्रममय श्रमण संस्कृति, निरख साधना भारी।
शान्त रसाश्रित जीवन जोयो, होयो दिल अविकारी॥
निर्धन धनिक पुण्य परितोषित, शोषित नर हो नारी।
सदा 'सव्वभूयप्पभूप' वहै, समता रस की क्यारी॥
है जिहां श्रम की वडी प्रतिष्ठा, जीवन चर्या सारी।
श्रम परिपूर्ण सवेरै संध्या, निरखो नयन उघारी॥
अपनो-अपनो कार्य करो सव, प्रतिदिन ऊठ सवारी।
अपठित-पठित अमीर-गरीव, हुए जव महाव्रतधारी॥
पडिलेहण और काजो-पूंजो, पात्र-प्रमार्जन वारी।
महाजन-हरिजन काम सामलो, चलो श्रमण-पथ-चारी॥
भारी भोलप अपनै श्रम मे, लाज करै लघुतारी।
सो अपंग पर मुखापेक्ष वण, दुविधा वहै वुधारी॥
प्राप्त परिश्रम से जो भिक्षा, सम-विभाग स्वीकारी।
अपनी पांती में सुख मानो, नहितर जीवन ख्वारी॥
वृद्ध वाल गुरु ग्लान म्लान, परिचर्या उचित प्रकारी।
हो जिम सवकी चित्त समाधी, रहै सदा सुविचारी॥
विनय विवेक नेक अनुशासन, शासन दृढ़ताधारी।
हिलै न एक पान भी गणपति, आज्ञा विन अविचारी॥

—माणक-महिमा, गीतिका २,२ से १०

जब कि माणकगणी अपना उत्तराधिकारी स्थापित किये बिना ही दिवगत हो गए, तब सारे संघ पर आचार्य के चुनाव का भार आ गया। उस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए मुनिजनों की मानसिक उथल-पुथल का विश्लेषण करते हुए जो कहा गया है; वह न केवल तेरापंथ के श्रमणों की चिन्तन-पद्धति को ही व्यक्त करता है, अपितु उनकी विचार-गरिमा का भी द्योतक है। वह वर्णन इस प्रकार है.

विचारो सन्तां ! सब मिल दात क नाथ कठा स्यूं ल्यावांला ?
सरै नहिं बिना नाथ इकस्यात, वयं सम रात वितावां ला ॥
आपांरो गण गोकुल सन्तां ! गउवां खड़ो विशाल ।
बड़ी दिदारु और दुधारु, पिण नहिं रह्यो गोवाल ।
सन्तां ! बिना गवाल गउवां की सी गति आपा पावां लां ॥
सेना कड़ाचूड़ है सारी, पहरण पक्की ड्रेश ।
पर सेनापति रह्यो न कोई, कुण दै अब आदेश ।
सन्तां ! बिन सेनानी सेना की कांइ उपमा पावां ला ॥
ग्रह नक्षत्र चमकता सारा, तारां की झमझोल ।
पिण अम्बरियो सूनो लागे, बिना चाँद चमकोल ।
सन्तां ! बिना चांद की रजनी स्यूं आपां तुल जावां ला ॥
जातिवान द्रुम पेड़, रु, पौधा, विटपी लता वितान ।
फल-फूलां स्यूं लड़ा-लुम्ब है, माली बिना बगान ।
सन्ता ! बिन माली कै उपवन की उपमा बन जावां ला ॥
खेती खड़ी नाज स्यूं नमती, दीर्ख सुन्दर डोल ।
पिण विण वाड सतावै राही, मन स्यूं करै मखोल ।
सन्ता ! बिना वाड़ की खेती, गण के नहीं बणावां ला ॥

—माणक-महिमा, गीतिका १८, २ से ६

श्रीकालू उपदेश वाटिका

'श्रीकालू उपदेश वाटिका' आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर बनायी गई भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाओं का संग्रह है। यह

ग्रन्थ सं० २००१ से २०१५ तक बनता रहा। इस कथन से यह अधिक सगत होगा कि इस लम्बी अवधि मे बनायी गई गीतिकाओ को बाद मे इस नाम से सगृहीत कर लिया गया। यह राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ है। इसकी भक्त्यात्मक गीतिकाएँ जहाँ व्यक्ति को भक्ति-विभोर कर देने वाली हैं, वहाँ आचार्यश्री के भक्ति-प्रवण हृदय का भी दिग्दर्शन कराने वाली हैं। यद्यपि जैन तथा जैनेतर भक्तिवाद की भूमिका मे काफी भेद रहा है, फिर भी आचार्यश्री भक्ति-धारा मे बहते हुए दूसरी धारा को भी मानो अपने मे समा लेना चाहते हैं। वे जानते हैं कि उनका आराध्य जैनेतर भक्तिवादियो के आराध्य के समान दृश्य या अदृश्य रूप से अपने आराधक के पास नही आता। उसे तो केवल भाव-विशुद्धि का साधन ही बनाया जा सकता है, फिर भी वे उसे अपने मन-मन्दिर में बुलाने का आग्रह करने से नही चूकते। वे कहते हैं-

प्रभु म्हारै मन-मन्दिर मे पधारो,
करूँ स्वागत गान गुणां रो,
करूँ पल-पल पूजन थारो।

चिन्मय नै पाषाण बनाऊँ, नहीं मैं जड़ पूजारो,
अगर-तगर-चन्दन क्यूं चरचूं, कण-कण सुरभित थांरो।

स्थान की अनुपयुक्तता मे कहीं आराध्य उस मन्दिर मे आने से इन्कार न कर दें, इसलिए वे स्वय ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वही आगे कहते हैं:

म्लान स्थान चंचलता निरखी, न करो नाथ नाकारो
तुम थिर वासे निरमलता पा, हो सी थिरचा वारो।

बड़े-से-बड़े दार्शनिक तथ्य को भी वे छोटे-से किसी रूपक के सहारे इस सहजता से कह जाते हैं कि आश्चर्य होता है। राग और द्वेष दोनों ही आत्म-विरोधी भाव हैं, परन्तु जन मानस मे एक के प्रति आदर मूलक भाव हैं तो दूसरे के प्रति निरादर-मूलक। वे उन दोनो की एक-रूपता तथा भावनात्मक भेद के कारण उन पर होने वाली मानव-प्रति-

क्रिया की विभिन्नता को यों समझाते हैं :

द्वेष दाव; हिमपात राग है,
पण दोनां री एक लाग है,
है दोनां रो काम कमल रो खोज गमाणो ॥
काठ काट अलि बाहर आवै,
कमल पांखड़ी छेद न पावै,
द्वेष राग रो रूपक जाण सको तो जाणो ॥

कुछ गीतिकाओं में भक्ति और उपदेश का अत्यन्त मनोहर मिश्रण हुआ है। इसी प्रकार की एक गीतिका में अविनाशी प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं :

भज मन प्रभु अविनासी रे !
बीच भँवर में पडी नावड़ी काठे आसी रे ॥
थांरो म्हांरो कर-कर सारो जनम गमासी रे।
कोड्यां साटे हीरो खोकर तूं पिछतासी रे ॥

इस संग्रह की उपदेशात्मक गीतिकाएं बहुत सरसता के साथ जहां व्यक्तियों को दुष्प्रवृत्तियों से हटने की प्रेरणा देती है, वहां स्थान-स्थान पर रूपकों के रूप में काव्य-रस का भी आस्वादन कराती हैं। उदाहरण-स्वरूप एक गीतिका के निम्नोक्त पदों को पढ लेना पर्याप्त होगा :

अम्बर में कडकै बिजली फड़ी,
होके रहिज्यो रे राही हुशियार।
घुमड़ घोर है गगन मण्डल में अजब अंधेरी छाई।
पथ नहीं सूझै, हृदय अमूझै, डांफर स्यूं काया कुम्हलाई ॥
तरुण तूफान अरुण हो अन्धड, आंख मींचता आवै।
भारी बिरखा बाढ नद्यां में, जीवडो जोखम स्यूं घबड़ावै ॥
पापी मोर पपीहा बोलै, हंसा हुआ प्रवासी।
कांठै खड्या रूखड़ा डोलै, मिटा रे कुटिया लुट जासी ॥

खिण-खिण मे जो ख्यात रासता, चढ़ता मोटै मालै ।
'जाए जाती खोसा खाती' वहग्या वै पिण पाणी रे वालै ।।

इसमे ससारी प्राणी को रूपक की भाषा मे राही कहा गया है। राही के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो का भी उसी प्रकार की भाषा से वर्णन करते हुए उसे सावधान किया गया है—आकाश में कड़कती हुई विजलियाँ, घुमड़ते हुए वादलो से चारों ओर छाने वाला अन्धकार, शरीर को विच्छाय कर देने वाली डाफर—शीतवायु, आँख मींचकर चलने वाले तूफान और अन्धड, टूटकर गिरने वाली भारी वर्षा तथा चढ़ी हुई नदियो ने तुम्हारे लिए घवरा जाने का वातावरण तैयार कर देने के साथ-साथ खतरा भी पैदा कर दिया है। ऐसा न हो कि तुम तट पर खडे वृक्ष की तरह यों ही उखड जाओ तथा तट पर वनी कुटिया की तरह क्षण-भर मे डुवो दिये जाओ। यहाँ प्रतिक्षण सावधान रहने वाले तथा ऊँचाई पर रहने वाले व्यक्ति भी वहुधा वहाव के साथ वह जाते हैं।"

श्रद्धेय के प्रति

यह भी 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की तरह गीतिकाओं का सग्रह ही है। इसमें विभिन्न पर्व-दिवसों पर देव, गुरु और धर्म के विषय में वनायी गई गीतिकाएँ हैं। इसके दो विभाग कर दिये गए हैं। प्रथम में हिन्दी और दूसरी मे राजस्थानी की गीतिकाएँ हैं। वे प्राय महावीर-जयन्ती, भिक्षु-चरमोत्सव तथा मर्यादा-महोत्सव आदि पर्व-दिवसों पर वनायी गई हैं। स्तुत्यात्मक होते हुए भी अनेक स्थानो पर काफी गहन निरूपण किया गया है। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की त्रिपदी को लक्ष्य कर उसे एक नूतन अद्वैत वतलाते हुए कहा गया है :

एकाचार एक समाचारी एक प्ररूपणा पंथ।
ओ नूतन अद्वैत निकाल्यो वाह वाह भीखणजी सन्त।

चातुर्मासिक प्रवास से सन्त-सतियों के दूर-दूर तक फैल जाने और फिर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एकत्रित होने की इस विकोचन

और संकोचन की प्रक्रिया को नदी के रूपक मे अत्यन्त सूक्ष्मता और गौरवशीलता के साथ यो अभिव्यक्ति दी गई है :

पावस मे पसरें करें अपनो शीतकाल संकोच।
निर्झरणी सम शासन सरणी अन्तर्मन आलोच।

प्रबन्ध-काव्य

इधर लगभग तीन वर्षों से आचार्यश्री का रुझान प्रबन्ध-काव्य लिखने की तरफ हुआ है। इन वर्षों में उन्होंने आषाढभूति, भरत-मुक्ति तथा अग्नि-परीक्षा नाम से तीन काव्य लिखे हैं। हिन्दी मे प्रायः छन्दोबद्ध प्रबन्ध-काव्यो का ही प्रचलन है; किन्तु इस परिपाटी के विपरीत ये तीनो गीतिका-निबद्ध हैं। बीच-बीच मे दोहों सोरठों तथा गीतक-छन्द आदि का भी प्रयोग किया गया है। जैन साहित्य-परम्परा मे यह शैली काफी प्रचलित रही है। राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इस शैली का प्रयोग बीजारोपण के रूप मे आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इसकी संगीतात्मकता श्रव्य-काव्य के भावनात्मक ध्येय की पूर्ति करने वाली है। रोचक कथानक, प्रवाहमयी भाषा संगीतात्मकता के साथ मिलकर श्रोता को एक अद्वितीय आनन्द की अनुभूति करा देने वाली होती है।

आषाढ़भूति

'आषाढ़भूति' की कथा जैन समाज मे अति प्रसिद्ध है। एक महान् आचार्य का परिस्थितियों के आवर्त्त-विवर्त्तों मे फँसकर नास्तिकता की ओर झुकने और फिर उस भावना पर विजय पाकर आस्तिकता में स्थिर होने तक की घटनावलि मे मानस के अनेक उतार-चढावो का वर्णन है। अन्य पारिपार्श्विक वर्णन भी हृदय को छूने वाले हैं। शहर मे फैली हुई महामारी के अवसर पर नगरवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है :

प्रायः पड़े बीमार, न कोई सेवा करने वाला।
त्राहि त्राहि कर रहे, न घर में पानी भरने वाला॥

अच्छे अच्छे भिषग्वरों की औषधि काम न करती।
उग्र व्याधि के प्रबल घात से धड़क रही है धरती॥
छोड़ पितामह प्रपितामह को पौत्र प्रपौत्र सिधारे।
माता मरी; रो रहे बच्चे बिलख-बिलख कर सारे॥
अन्ध-यष्टि से निराधार-आधार नन्द इकलौते।
पैर पसारे, कौन उबारे, रहे स्वजन सब रोते॥
कहीं-कहीं पर तो मृतकों को नहीं जलाने वाले।
घर-घर मे शव पडे सड रहे, कौन किसे सभाले?
एक चिता पर, एक बीच मे, एक पडा है धरती।
वर्ग-भेद के बिना, शहर मे घूम रहा समवर्ती॥

—आषाढभूति १,४८ से ५३

महामारी के प्रचण्ड प्रहार ने आचार्य आषाढभूति के अनेक योग्य तथा विद्वान् शिष्यो की आहुति ले ली। शेष शिष्यो के बचने की आशा भी कुपित काल के आघातो से धूमिल हो उठी। उस स्थिति ने आचार्य के धार्मिक मन को झकझोर डाला। वे सोचने लगे, क्या आजीवन की गई धर्म-साधना का यही प्रतिफल है? जन-साधारण की मृत्यु तथा अपने विद्वान् शिष्यो की मृत्यु के अभेद ने उनके मन मे नास्तिकता का बीज-वपन कर दिया। एक ओर उनके मानस की यह डगमग करती हुई स्थिति थी, तो दूसरी ओर गण की स्थिति उस उद्यान के समान हो रही थी जो कि पतझड़ के समय बिल्कुल शोभा-विहीन होकर डरावना-सा लगने लगता है। आचार्य अपने मन की इस परेशानी को जब बचे हुए शिष्यो के सामने रखते हैं; तब उनका मन इतना खिन्न और निराशा से भरा होता है कि उन्हें किसी के बचने की सम्भावना ही नही रहती। उन्हे लगता है कि काल कुपित होकर उनकी हरएक आशा को घात लगा-लगाकर तोड डाल रहा है। तभी तो वे अपने अवशिष्ट शिष्यो को 'सानन्द' विदा देने की बात कह डालते हैं और साथ ही अपनी आँखो मे घिर आने वाली नास्तिकता की सम्भावित काली रात का भी उल्लेख

कर देते है । वे कहते हैं

फलित ललित आषाढ़भूति गण
पतझड़ हुआ आज देखो
किसने सोचा यों आयेगा, भीषण झंझावात ।
शेष रहे भी बच पायेंगे
यह भी सम्भव नहीं अहो !
रह-रह आशा तोड रही है, कुपित काल की घात ।
ले लो सभी विदा मेरे से
मैं सानन्द तुम्हें देता
पर घिरने वाली है, इन आँखों मे काली रात ।

—आषाढ़भूति १,७२ से ७४

एक स्थान पर बालको का वर्णन सहज और सरल शब्दो मे इतने आकर्षक ढग से किया गया है कि मानो बालको की आकृति-प्रकृति और क्रियाकलाप स्वय ही मुखरित हो उठे हो

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे ।
झलक रही थी सहज सरलता, हसित वदन थे सारे ।
तुतली-तुतली प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी बोली ,
बड़ी सुहानी हृदय लुभानी, सूरत भोली-भोली ।

—आषाढ़भूति २,६६ से ७२

महाकवि कालिदास ने कहा है—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशाचक्रनेमिक्रमेण[1] अर्थात् "मनुष्य की दशा रथ के चक्र की तरह क्रमश नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे होती रहती है ।" आचार्यश्री इस बात को 'अति' से जोडकर यों कहते है .

आता पतन चरम सीमा पर, तब चाहता उत्थान ,
प्रायः मानव-मानस का यह, सरल मनोविज्ञान ।

---

१. मेघदूत

है संभावित अत्युत्कर्षण में होना अपकर्ष
अत्यपकर्षण में ही होता, निहित सदा उत्कर्ष।
—आषाढ़भूति ३,१२७ से १२८

भरत-मुक्ति

'भरत-मुक्ति' भगवान् ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत के जीवन से सम्बद्ध-काव्य है। मानव-संस्कृति के प्रथम स्फोट के अवसर पर मार्ग-दर्शन करने वाले तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को जैनों ने ही नहीं, किन्तु वैदिकों ने भी अपने अवतारों में से एक गिना है। इस काव्य में उस समय के मानव-स्वभाव और उसमें क्रमिक-विकास का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। महाराज भरत ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र होने के साथ यहाँ के प्रथम सम्राट् भी थे। जैनों के विचारानुसार उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र को 'भरत' या 'भारत' कहा जाने लगा है। भरत के जीवन में अनेक उतार-चढाव हैं। राज्यलिप्सा, भाइयों से कलह, युद्ध, साम्राज्य-स्थापन तथा अनन्य सुख-भोग आदि की घाटियों से तुमुल नाद के साथ बहती हुई उनकी जीवन-सरिता अन्त:-शमरस की समभूमि पर आ जाती है। यहीं से उनके जीवन की उस उच्च भूमिका का निर्माण होता है, जिसे प्राप्त करने के लिए योगिजन योग-साधना करते हैं। दृश्य और अदृश्य सभी बन्धनों से पूर्ण मुक्ति की ओर अभियान का प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है।

सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने वाले प्रभु ऋषभनाथ के द्वारा सरयू के तट पर 'वनिता' नगरी की स्थापना हुई। उस समय की प्रारम्भिक स्थितियों में उसका अपना वैभव प्राकृतिक वैभव ही हो सकता था। नगर के सन्निकट के विपिन-कुंज पादप और लताओं से भरे हुए थे। उनका वर्णन करते हुए कहा गया है :

छोटे-छोटे सन्निकट विपिन
तरु वल्लरियों से घिरे सघन;
कुञ्जों की वह कमनीय प्रभा,

किसका न रही हो चित्त लुभा,
शाखाओं के मिष हाथ हिला,
पथिकों को पादप रहे बुला,
आओ मीठे फल खा जाओ,
अपनी पथ-श्रान्ति मिटा जाओ।"

—भरत-मुक्ति, ३ सर्ग

विपिन के तरु, वल्लरियो और कुजो के द्वारा पथिक को जहाँ चित्त-प्रसत्ति होती है, वहाँ उसे प्रकृति का अतिथि-सत्कार भी प्राप्त होता है। भारतीय मानव ही अतिथि-सत्कार मे निपुण नही हैं, अपितु वृक्ष भी उसमे कम नही उतरना चाहते। वे अपनी शाखाओ के हाथ हिला-हिलाकर पथिको को बुलाते हैं और अपने मीठे फलो तथा छाया से उनकी श्रान्ति दूर करते हैं। यहाँ पादपो द्वारा पथिको को बुलाना तथा मीठे फल खाने का आग्रह करना आदि क्रियाओ का बडी सुन्दरता से मानवीकरण किया गया है।

स्त्रियाँ वस्त्राभूषणो से सज्जित होती हैं। अपने रूप-गौरव पर अपने-आप ही लज्जित होती हुई वे झुकी-झुकी-सी रहती हैं। पति के आस-पास रहने को वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख मानती हैं। उनकी हर गतिविधि पुरुष के मन को उन्मत्त कर देने वाली होती है। परन्तु वे सारी गतिविधियाँ मानवीय सस्कारो मे ही बँध कर नहीं रह जाती हैं। कवि के ससार मे वे वनस्पतिलोक मे भी उसी प्रकार से चलती रहती हैं। मानवीयभावो को वनस्पति-जगत् पर कवि ने कितने सुन्दर ढग से आरोपित किया है :

शाखाओं से नत लज्जित हो,
पत्रों पुष्पों से सज्जित हो,
मानसोन्मादिनी लतिकाएँ,
पादप गण के दाएँ बाएँ।'

—भरत-मुक्ति, ३ सर्ग

एक स्थान पर हिंसा और अहिंसा के विषय मे बडी स्पष्टता के साथ कहा गया है :

है हिंसा आक्रामकता, भय खाना भी हिंसा है,
उसमे बर्बरता, इससे जग मे निन्दा-खिसा है।
दोनो से आत्म-पतन है, दोनों हैं दुर्बलताएं,
क्यों लडें किसी से अड़के ? क्यो मरने से घबरायें ?
होते आक्रमण, पलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
बचते जो इन दोनों से, वे ही गम्भीर विचक्षण।
वर अभय अहिंसा देती, जहाँ भय का काम नहीं है,
संत्रस्त भयाकुल प्राणी लेते विश्राम वहीं हैं।

—भरत-मुक्ति, ४ सर्ग

आक्रमण करना हिंसा है, पर आक्रमण से भयभीत होना भी हिंसा है। एक मानवीय वर्बरता का प्रदर्शन है तो दूसरी कायरता का, दोनो ही वृत्तियाँ निन्दनीय हैं। भयभीत पशु या तो आक्रमण कर बैठता है या भाग जाता है। मनुष्य की भी वृत्तियाँ अभी तक वैसी ही चल रही हैं। वह भी तो यही करता है। आचार्यश्री ने अहिंसा के समर्थन मे भरत के भाइयो के मुख से ये उद्गार व्यक्त कराये हैं कि अहिंसा ही अभयदायिनी है। ससार के प्राणियो के लिए इससे अतिरिक्त विश्राम का कोई स्थान नही हो सकता।

अग्नि-परीक्षा

अग्नि-परीक्षा आचार्यश्री के प्रवन्ध-काव्यो मे नवीनतम रचना है। इसमे जनकतनया सीता के माध्यम से भारतीय नारी का जहाँ शील-सौजन्य अकित किया गया है, वहाँ राम तथा तत्कालीन जनता के माध्यम से नारी-जाति के प्रति पुरुष-जाति का युग-युगान्तरो से चला आ रहा सन्देह भी वर्णित तथा आलोचित हुआ है। लका-विजय के वाद राम के सपरिवार अयोध्या आनें की भूमिका से इस काव्य का प्रारम्भ हुआ है, तो सीता के अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के साथ परिसमापन।

इसमें घटनावलि इस क्रम से चलती रही है कि न कहीं राम भुलाये गए हैं और न कहीं सीता; फिर भी पाठक के सम्मुख स्वयं ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें मूल पात्र राम न होकर सीता है। 'अग्नि-परीक्षा' नाम भी इसी वास्तविकता का द्योतक है।

यद्यपि आज की परिस्थिति में किसी नारी को अग्नि में डाल कर उसके शील की परीक्षा करना न व्यवहार्य है और न सम्भव। फिर भी पुरुष के मन में जब-जब नारी के शील में सन्देह उत्पन्न होता है; तब-तब उस बेचारी को प्रतीकात्मक भाषा में कहें, तो आज भी अग्नि-परीक्षा में से ही गुजरना पड़ता है। नारी के लिए यह एक शाश्वत समस्या है। इस समस्या का हल सीता ने अपनी मानसिक पवित्रता, आत्म-बल और सहिष्णुता में ही खोजा था। प्रत्येक नारी के लिए उनके इन आदरणीय गुणों की आवश्यकता है। आचार्यश्री ने निष्कासन के अपमान से दुःखाभिभूत सीता के मुख से राम को नाना उपालम्भ दिलाकर उनके सहज नारीत्व को उभारा है। उन्हें पुरुष की दासी-मात्र नहीं बनाकर स्वाभिमानयुक्त नारी के रूप में चित्रित किया गया है; जो कि सर्वथा स्वाभाविक है। यह काव्य मानस-भूमि में सात्त्विक गुणों के अंकुरित होने के लिए एक सहज वातावरण उत्पन्न करता है। इस काव्य की ललित पदावलि, धारा की तरह प्रवाहमान भाषा तथा सरस वर्णन पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रहते। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

राम जब रात्रि के समय अयोध्या में घूमकर सीता के अपवाद की बातें सुनकर वापस आते हैं; तब एक ओर तो शान्त रात्रि तथा दूसरी ओर अशान्त मन का वातावरण उसके लिए असह्य हो जाता है। उसका चित्रण यों किया गया है :

विश्व वातावरण सारा तम-निमज्जित हो रहा,
जन-समूह अनुह निशि के व्यूह में था सो रहा।
टिमटिमाते तारकों की कान्ति ज्योति-विहीन थी,

प्रकृति ध्वान्तावरण मे तल्लीन सर्वांगीण थी
अभ्र-अवनी-सर-सरोरुह श्रान्त शान्त नितान्त थे,
सरित-सागर-शब्द रह रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।
विहग पन्नग द्वय-चतुष्पद सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणत गति स्थिति मे, शब्द भी नि.शब्द थे ॥
किन्तु राघव का हृदय आन्दोलनों से था भरा,
घूमता आकाश ऊपर, घूमती नीचे धरा।
तल्प कोमल निशित-शायक तुल्य दुःखद लग रही,
स्वयं उनको हा ! स्वय की भावनाएँ ठग रहीं ॥

—अग्नि-परीक्षा ३,१ से ३

नारी-जाति के विषय मे आचार्यश्री के अतिशय कोमल विचार हैं। वे उनके उत्थान-विषयक योजनाओं को कार्यान्वित करने पर बहुधा बल देते रहते हैं। नारी-जाति की पीडा और विवशता उनसे छिपी नहीं है। राम द्वारा निष्कासित होने पर सीता का चिन्तन वस्तुत आचार्यश्री के चिन्तन को ही व्यक्त करने वाला है, जो कि इस प्रकार है .

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर, नारी के लिए सदन की चार-दीवारी।
सूर्य देखना भी होता महाभारत भारी,
किसे कहे अपनी लाचारी वह बेचारी ॥
मार-मार अपने मन को वह सब कुछ सहती,
जैसा होता, नहीं किसी से कुछ भी कहती।
चिन्ता सदा चिता बन, उसको दहती रहती,
व्यथा हृदय की छल-छलकर पलकों से बहती ॥

—अग्नि-परीक्षा ४,१४, १५

जैन-रामायण के अनुसार परित्याग के लिए सीता को लक्ष्मण नहीं, किन्तु 'कृतान्तमुख' सेनापति ले गए थे। जब वे वापस आकर राम को सीता के उपालम्भो आदि से अवगत कराते हैं, तब उनसे श्रोतृगण का

मन करुणार्द्र हो उठता है, परन्तु अन्तत जब सीता इस काण्ड में भी सदा से निर्दोष रहने वाले राम के मति-विभ्रम को अपने ही किन्हीं अज्ञात कृतकर्मो का परिणाम स्वीकारती है, तब भारतीय नारी की इस शालीनता और सात्त्विकता पर मस्तक झुक जाता है। कृतान्तमुख उनके शब्दो को यो दुहराता है :

कैसे प्रतिकूल प्रवाह बहा, कुछ भी जा सकता नहीं कहा,
नस-नस में उनकी जान रही, अति भावुक भद्र स्वभाव रहा।
जो हुआ; दोष सब मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम,
कृतकर्मों का ही कुपरिणाम, जिससे उनकी मति हुई वाम।
झूठा कलंक यह आया है, रवि के रहते तम छाया है,
माताजी ने कहलाया है ॥

—अग्नि-परीक्षा ४,७४

इसके साथ ही जब वे इस परित्याग से उत्पन्न हुई स्थिति से अपने और राम के सम्बन्धों का जिक्र करती हैं, तब रूपको के माध्यम से कवि उनके भावो की अभिव्यक्ति इतनी गहराई और मार्मिकता के साथ करते हैं कि हर रूपक सीता के अन्तस्तल की पीडा का प्रतिविम्ब बनकर 'श्रव्य' के साथ-साथ 'दृश्य' होने का आभास देने लगता है। वहाँ कहा गया है :

ममता की गाँठें शिथिल हुई, भावों की गगरी फूट गई,
निर्यामक का मुँह फिरते ही पतवार हाथ से छूट गई।
सीता की सरिता सूख गई, सपनों की रजनी रूठ गई,
अब क्या जीने मे जीना है, जब आकांक्षाएँ टूट गई।
सब गत-रस किया कराया है, न्यारी काया से छाया है ॥

—अग्नि-परीक्षा ४,७५

एक स्थान पर शरद् ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

शरद ऋतु की सुखद शीतल पवन-लहरी चल रही,
विगत-घन अति शुभ्र अम्बर पंक-विरहित थी मही।

आ रहा विस्तार वर्षा का सहज सक्षेप मे,
ज्यो समाहित तत्त्व सारे, चतुर्विधि निक्षेप मे।
नाति शीत, न चाति ऊष्मा, सम अवस्थित भाव मे,
सर्वदा ज्यो लीन रहते सन्त सहज स्वभाव मे।
निशावासर हैं बरावर, तुल्यता कफ-वात में,
वेदनी आयुर्यथा सम समद्घात-विघात मे।
पूर्णतः अनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
ज्यों अणुव्रत आज जन-मानस प्रबोधन के लिए।
स्वच्छ सलिल सरोवरो का मुकुर-सदृश सुहावना,
धर्म-शुक्ल-ध्यान मे जैसे समुज्ज्वल भावना।
जैन मुनि भी कर रहे अब प्रतीक्षा प्रस्थान की,
योग-रोधक प्राप्त-शैलेशी यथा निर्वाण की।
स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया संवर-निर्जरा-संयोगिनी।
हो रही कृशकाय नदियाँ, क्षीण निर्झर-पीनता,
क्षपक श्रेण्यारूढ़ मुनि की ज्यों कषाय-प्रहीणता।
वर्ष भर का कृषिक-श्रम अब हो रहा साकार है,
खींचता तन-सार अनशन मे यथा अनगार है।

—अग्नि-परीक्षा, ५, १ से ५

यहाँ शीतल पवन, घनरहित आकाश, पकरहित धरती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपक्रम का पुन सक्षेप, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियो और निर्झरो के उफान का शमन तथा कृपिक के श्रम का धान्य के रूप मे साकार होना आदि कार्य शरद् ऋतु का इतना सहज चित्र खीचते हैं कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् मे प्रति वर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्णन मे प्रयुक्त उपमाएँ जहां एक ओर विपय को सरल बनाती हैं; वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के विना उन्हें

समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं से आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इससे जैन संस्कृति के विचारों तथा पारिभाषिक शब्दों से जन-साधारण को परिचित होने की प्रेरणा मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य

आचार्यश्री के संस्कृत-साहित्य में 'जैन सिद्धान्त दीपिका' तथा 'भिक्षु न्याय कर्णिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ हैं। ये प्राचीन परिपाटी के अनुसार सूत्र तथा वृत्ति के रूप में संदृब्ध हैं। 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में जैन मान्यतानुसार तत्त्व-निरूपण किया गया है। इसके नौ प्रकाश हैं। नवें प्रकाश में जैन-न्याय-सम्बन्धी संक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हैं; जब कि अन्य आठ प्रकाशों में द्रव्य, आत्मा, कर्म, अहिंसा तथा गुणस्थान आदि का विवेचन है। 'न्याय कर्णिका' में आठ विभाग हैं जिनमें जैन मान्यतानुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्याय के विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' आदि ग्रन्थों के समान इसमें इतर न्याय-शास्त्रियों के मन्तव्यों का खण्डन करने का लक्ष्य नहीं रखा गया है। यह ग्रन्थ जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जैन न्याय के प्रमुख अंग नय-निक्षेप आदि को भी सरलता से हृदयंगम करने में सहायक होता है। वस्तुवृत्त्या यह अत्यन्त उपयोगी एक लाक्षणिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-गद्य में आचार्यश्री के कई निबन्ध भी हैं। संस्कृत पद्य-ग्रन्थों में 'कालू कल्याण मन्दिर स्तोत्रम्,' 'कर्तव्यषट्त्रिंशिका', 'शिक्षापण्णवति' आदि हैं।

धर्म सन्देश

आचार्यश्री की साहित्य-सृष्टि में धर्म-सन्देशों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सन्देश बहुधा विश्व के विभिन्न भागों में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दिये गये थे। अनेक स्थानों पर उनका अच्छा प्रभाव भी देखने में आया। 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नामक एक सन्देश लन्दन में आयोजित 'विश्व धर्म सम्मेलन' के

अवसर पर दिया गया था। वह दूर-दूर तक पहुँचा था। न्यूयार्क के 'साइरेक्यूज विश्वविद्यालय' के डा० रेमड एफ० पीयर ने एक पत्र मे लिखा था कि उन्होने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रो के पाठ्य-क्रम मे २६ जून १९४५ को दिये गये प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्त्वपूर्ण अंशो को सम्मिलित कर लिया है[1]।

उस सन्देश की एक प्रति महात्मा गाधी के पास भी पहुँची थी। उन्होने उसे पढा और उस पर कई जगह टिप्पणियाँ भी लिखी। इस सन्देश का प्रकाशन काफी लम्बे समय के पश्चात् हुआ था। अत भूमिका मे जहाँ एतद् विषयक खेद प्रकाशित किया गया था, महात्मा गाधी ने वही पर लिखा—'ऐसे सन्देश निकालने मे देरी क्यो ?' पुस्तिका के पृष्ठ ११ पर 'सम्यक्त्व' का विवेचन किया गया है; महात्मा गाधी ने वहा लिखा है—'क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया ?' उसके आगे पृष्ठ ११-१२ पर विश्व-शान्ति के सार्वभौम उपायो का कथन करते हुए नौ वातें वतायी गई हैं। उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'क्या ही अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमो को मान कर चलती[2]।'

यह आचार्यश्री का प्रथम सन्देश था। इसके वाद 'धर्म रहस्य', 'आदर्श राज्य', 'धर्म सन्देश', 'पूर्व और पश्चिम की एकता', 'विश्व-शान्ति और उसका मार्ग', 'धर्म सब कुछ है, कुछ भी नही', 'धर्म और भारतीय दर्शन' आदि अनेक सन्देश तथा वक्तव्य दिये गए। उनका प्राय. सर्वत्र यथोचित आदर हुआ है।

मधु-संचय

आचार्यश्री के दैनन्दिन प्रवचनो को अनेक व्यक्तियो द्वारा अनेक रूपो मे संकलित किया गया है। वे सभी सकलन उनके साहित्य का ही अग है। 'नैतिक सजीवन', 'शान्ति के पथ पर', 'तुलसी वाणी', 'पथ

१ जैन भारती, मार्च १९४९
२ जैन भारती, जुलाई १९४७

श्रौर पाथेय', 'प्रवचन-डायरी' आदि पुस्तकें इसी क्रम मे समाविष्ट हैं। वस्तुत. वे जो कुछ बोलते हैं, वह सब ऋषि-वाणी के रूप मे स्वय सिद्ध साहित्य बन जाता है। उन प्रवचनो मे कुछ अश तो इतने भावपूर्ण होते हैं कि हृदय को छू-छू जाते हैं। वे आचार्यश्री के मानस-मन्थन से उद्भूत-विचार-नवनीत के रूप में जितने सुकोमल श्रौर पवित्र होते हैं; उतने ही शक्तिदायक भी। उनके भावो की गहराई मन को मुग्ध कर लेने वाली होती है। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री के एक वाक्य पर लिखा था—'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त तुलसी ने दो शब्दो मे इस विकृति, प्राप्त का सुख न लेना श्रौर अप्राप्त की सतत चाह रखना, का जो चित्र दिया है; उसे हज़ार विद्वान् हज़ार-हज़ार पृष्ठो की हज़ार पुस्तको मे भी नही दे सकते। वे शब्द हैं—भूख श्रौर व्याधि। सन्त की वाणी है—"आज के मनुष्य को पद, यश श्रौर स्वार्थ की भूख नही, व्याधि लग गई है, जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नही होती[1]।" इस प्रकार के छोटे तथा गहरे वाक्यो से आचार्यश्री के प्रवचन भरे रहते हैं। यहाँ उनके इसी प्रकार के भाववाही सुभाषितों के मधु-सचय का कुछ आस्वादन अप्रासंगिक नही होगा :

जो सब कुछ जान कर भी अपने-आपको नहीं जानता; वह अविद्वान् है। विद्वान् वही है, जो दूसरों को जानने से पूर्व अपने आपको भली-भाँति जान ले।

× × ×

हम अपने से ही अपना उद्धार चाहते हैं। बाह्य नियन्त्रण कम से कम आये। हम स्वयं ही नियन्त्रित होकर चलें, तभी हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

× × ×

सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है श्रौर अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार

१. ज्ञानोदय, फरवरी १६५६

पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं।

× × ×

जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है, वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है।

× × ×

हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ोसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी।

हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ोसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा।

पड़ौसी को दुर्गन्ध न आये, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखें, यह सही बात नहीं है।

दूसरो को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें, अहिंसा का यह सही मार्ग नहीं है।

आत्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें, यह है अहिंसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है।

× × ×

अहिंसा के दो पहलू हैं—विचार और आचार। पहले विचार बनते हैं फिर तदनुसार आचरण होता है।

आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानना चिन्तन का दोष है। हिंसा आखिर हिंसा है। वह दूसरी बात है कि आवश्यक हिंसा से बचना कठिन है।

× × ×

धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बांध है। बांध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है, वैसे ही सम्प्रदाय से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके विपरीत सम्प्रदायों मे कट्टरता, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता आ जाये तो वह केवल स्वार्थ-सिद्धि का अंग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी संघर्ष पैदा करने वाला हो जाता है।

× × ×

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करने वाले की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ है, चाहे वह एक कौडी भी न दे।

× × ×

मनुष्य अपनी गलती को नहीं देखता, दूसरे की गलती को देखने के लिए सहस्राक्ष बन जाता है। अपनी गलती देखने के लिए जो दो आँखें हैं, उनको भी मूंद लेता है।

× × ×

आत्म-तोष का एक मात्र मार्ग आत्म-संयम है। दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। लोग सयम को निषेधात्मक मानते हैं, पर वह जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक पक्ष है।

× × ×

जिसकी चाह नहीं है, उसकी राह सामने है और जिसकी चाह है; उसकी राह नहीं है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया मे जी रहा है। चाह सुख की है, कार्य दुःख के हो रहे हैं।

× × ×

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है और अति भाव भी नहीं है, सुख का हेतु स्वभाव है।

× × ×

व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है, उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता, पहले वह विवेक को जगाता है। श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है। कठिनाइयां झेलने की क्षमता पैदा करता है। प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है, फिर वह व्रत लेता है।

× × ×

पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है, दूसरी बार संकोच, तीसरी बार नि.सकोचता आ जाती है और चौथी बार मे साहस वढ़ जाता है।

× × ×

विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है।

× × ×

आचार-शुद्धि की आवश्यकता है, उसके लिए विचार-क्रान्ति चाहिए, उसके लिए सही दिशा में गति और गति के लिए जागरण अपेक्षित है।

× × ×

जीवन सरस भी है, नीरस भी है। सुख भी है, दुःख भी है। सब कुछ भी है, कुछ भी नहीं है। नीरस को सरस, दु ख को सुख, कुछ भी नहीं को सब कुछ बनाने वाला कलाकार है।

× × ×

पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है, वह तो क्षणिक होता है। …किन्तु वस्तु-निरपेक्ष आनन्द ही स्थायी होता है।

× × ×

धर्म जो कि पुस्तकों, मन्दिरो और मठो मे बन्द है, उसे जीवन में लाना होगा। बिना जीवन मे उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने मात्र से क्या होने वाला है ?

× × ×

विश्व-शान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुएं नहीं हैं। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा है। लालसा से संग्रह, संग्रह से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

× × ×

मुझे तो अणुबम और उद्‌जनबम जितने प्रलयंकारी नहीं लगते; उतनी प्रलयंकारी लगती है—चरित्रहीनता, विचारों की संकीर्णता। बम तो उन अपवित्र विचारो का फलितार्थ मात्र है।

× × ×

छोटे भिखारियों के लिए तो सरकार भिखारी बिल बना देगी; पर

मैं पूछता हूं कि इन बड़े भिखारियों का सरकार क्या करेगी ? जब चुनाव आते हैं, तब ये बड़े भिखारी घर-घर डोलते हैं—"लाओ वोट और लो नोट" ।

× × ×

लोगों मे जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण-शुद्धि का नही। पर आचरण-शुद्धि के बिना उपासना का महत्त्व कितना होगा ?

× × ×

मैं चाहता हूँ, प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के सद्‌विचारों का समादर करे। समस्त धर्मो के प्रति सहिष्णुता रखे। उदार बनेंगे तो पायेंगे। संकुचित बनेंगे तो खोयेंगे।

× × ×

श्रद्धा और तर्क जीवन के दो पहलू हैं। जीवन मे दोनों की अपेक्षा है। व्यावहारिक जीवन मे भी न केवल श्रद्धा काम देती है और न केवल तर्क। दोनों का समन्वित रूप ही जीवन को समुन्नत बनाने मे सहायक होता है। अतः तर्क के साथ श्रद्धा की भूमिका होनी चाहिए और श्रद्धा भी तर्क की कसौटी पर कसी होनी चाहिए।

× × ×

विद्या वरदान है, पर आचार-शून्य होने से वह अभिशाप भी बन जाती है।

× ×

तुम पथिक बनकर पथ पर चलो। लेकिन पथ पर कब्जा मत करो। पंथ पर चलो पर पन्थ के नाम पर बडी-बड़ी अट्टालिकाएँ और महल खड़े मत करो।

× × ×

लोग कहते हैं कि सांप-बिच्छू जहरीले हैं, इसलिए हम उन्हें मारते हैं। मैं पूछता हूँ—जहरीला कौन नहीं है ? क्या आदमी सांप से कम जहरीला है ? सांप कब काटता है ? जब वह दब जाता है, उसे भय होता

है, पर आदमी विना दवे ही ऐसा काटता है; जो जहर पीढियों तक भी नहीं उतरता।

× × ×

खाने के तीन उद्देश्य हैं—स्वाद के लिए खाना, जीने के लिए खाना और संयम-निर्वाह के लिए खाना। स्वाद के लिए खाना अनैतिक है, जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम के लिए खाना साधना है।

× × ×

विद्या जीवन की दिशा है, जिसे पाकर मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुंच सकता है। चरित्र जीवन की गति है। सही दिशा मिल जाने पर भी गतिहीन व्यक्ति इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच पाता। सही दिशा और गति दोनों मिले, तब काम बनता है।

× × ×

सेवा का सबसे पहला कदम अपनी जीवन-शुद्धि है। यह आत्म-सेवा जिसके बिना जन-सेवा बन नहीं सकती।

× × ×

विद्या का फल मस्तिष्क-विकास है, किन्तु है प्राथमिक। उसका चरम फल आत्म-विकास है। मस्तिष्क-विकास चरित्र-विकास के माध्यम से ही आत्म-विकास तक पहुंच पाता है। इसलिए चरित्र-विकास दोनों के बीच मे कडी है।

× × ×

न्याय और दलबन्दी—ये विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओ मे चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?

× × ×

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं जो अगले जीवन को सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाये—बिगाडे। वस्तुत. धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं, यही जीवन है।

× × ×

: ८ :

संघर्षों के सम्मुख

आचार्यश्री का जीवन संघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है; त्यों-त्यों संघर्ष भी बढ़ता रहा है। उनके विकासशील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेकों भक्त तैयार किये हैं; वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न हुई; तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान बनकर बार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बन कर आता रहा है; किन्तु उन्होंने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाया है। वे जहाँ जाते हैं; वहाँ हजारों स्वागत करने वाले मिलते हैं तो पाँच-दश आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं। "विकास विरोधियों के साथ संघर्ष का नाम है"—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध—इन दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आपको सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है अनुरोधजन्य अहंभाव और विरोधजन्य हीन-भाव उन्हें प्रभावित नहीं करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

संघर्ष प्रायः हर जीवन में रहते हैं। सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं; कुछ साधारण, तो कुछ असाधारण। कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोड़ने वाले; तो कुछ चिरकालिक। वर्तमान वातावरण को तो सभी संघर्ष झकझोरते ही हैं। आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले संघर्षों में कुछ आन्तरिक हैं तथा कुछ बाह्य।

आन्तरिक संघर्ष

आन्तरिक सघर्ष से तात्पर्य है—तेरापथियो द्वारा किया हुआ सघर्ष। क्योकि आचार्यश्री तेरापथ के आचार्य है। तेरापथ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियो को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए, परन्तु कुछ प्राचीनतावादियो के मन मे उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए हैं। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापथ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही हैं। वे सोचते है कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे है, वे सब अन्तत अहितकर ही होगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हो, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूल गुणो को सुरक्षित रखते हुए उत्तर-गुणो मे सम्बद्ध अनेक परम्पराओ का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उनमे परि-वर्तन की गुजाइश हो सकती है।

प्राचीनता और नवीनता का यह सघर्ष कोई नया नही है। हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कही सारे ढाँचे को ही न ढहा दे। परन्तु जो दूर-द्रष्टा होते हैं, वे जानते है कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नही होते और आव-श्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये है और उनके मार्ग मे आने वाले विरोधो को उन्होने विचार-मन्थन का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया मे विरोध या रुकावट नहीं आती, वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नही होता। जिस काम मे चेतना लाने वाली शक्ति होती है, वही हरएक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगो के लिए यह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय

फिर सघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तो मे से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नही होगा।

दृष्टिकोण की व्यापकता

आन्तरिक सघर्ष का वीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण से हुआ। उससे पूर्व सभी मे आचार्यश्री के प्रति अटूट निष्ठा थी। तव तक आचार्यश्री का विहार-क्षेत्र प्राय थली (वीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित था। उनके समय और शक्ति का वहुलाश प्राय उसी समाज के वँधे हुए दायरे मे लगता था। आन्दोलन की प्रवृत्तियो के साथ-साथ ज्यो-ज्यो दायरा विशाल वनता गया, दृष्टि-कोण व्यापक होता गया, त्यो-त्यो उस वर्ग पर लगने वाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुडता चला गया। इससे कतिपय व्यक्तियो को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापथ से दूर हटने लगे हैं। वे गैर तेरापथियो से घिरते चले जा रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शकाएँ उठायी जाने लगी। उनमे मुख्य ये थी

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नही है, क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है?

२ गृही-जीवन के विषय मे नियम वनाना क्या साधुचर्या के अनु-कूल है?

३ श्रावक के वारह व्रतो को छोडकर नया प्रचार करना क्या आगमो के प्रति अन्याय नही है? आदि-आदि।

आचार्यश्री ने यथासमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी शंकाओ का अनेक वार समाधान किया। जो व्यक्ति अणुव्रती शब्द की उलझन मे थे; वे स्वय श्रावक-व्रत धारण न करने वाले को भी श्रावक ही कहा करते थे, श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शका स्वय ही निरस्त हो जाने वाली थी। परन्तु यहाँ भी श्रावक

शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता ही समझने मे बाधक बनी रही । गृही-जीवन के विषय मे नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतो की नियमावली के आधार पर समझ में आ सकती थी । भगवान् महावीर ने श्रावको की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे, उसी प्रकार के ये नियम थे, जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान मे रखकर बनाये गए थे । अणुव्रत और बारह व्रतो मे तो कोई सघर्ष ही नही था । उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादश व्रती अणुव्रत के नियमो को भी स्वीकार करते थे । इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शकाए दुहराई जाती रही ।

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था, तब अणुव्रत-प्रार्थना मे भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नही थी । उसके विरोध मे यह प्रचारित किया गया कि प्रात भगवान् का नाम लेना चाहिए, वह तो इसमें है नही । इसमे तो झूठ, फरेब आदि के नाम भर दिये गये हैं, जिनको कि उस समय याद ही नही करना चाहिए । बहुत-से लोग इसीलिए प्रात कालीन प्रार्थना मे सम्मिलित नही होते ।

इसी ग्रीष्म की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना मे सम्मलित होने के लिए कहा, तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ मे ही नही बैठती ।

मैंने पूछा—क्यों, ऐसी कौन-सी उलझन की बात है उसमे ?

उसने कहा—नित्य सवेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं, अत हमारे भाग्य बडे तेज हैं—मुझे तो बिलकुल पसन्द नही है, और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नही, अत मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा ।

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कडी का जो अर्थ उसने लगाया था, उसे सुनकर मैं दग रह गया । इस विरोध के प्रवाह मे वह कर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातो का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होगे । मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस आया । मैंने समझाते हुए

उससे कहा—तुमने प्रार्थना की कडी का ग़लत अर्थ लगाया है, इसी-लिए तुम्हें उसके विषय मे भ्रम हुआ है। उस कडी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सकें, तो यह हमारे लिए बड भाग्य की बात होगी। जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथो का उल्लेख आगमो मे आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है, उसी प्रकार इस प्रार्थना मे जीवन-विशुद्धि के लिए जो सकल्प हैं, उनसे भाव-विशुद्धि होती है। अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नही है। इन सब बातो को समझ लेने के बाद वह व्यक्ति प्रार्थना मे सम्मिलित होने लगा।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जातीयता के आधार पर किसी को छोटा या बडा मानने की नही रही है। तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, फिर भी पिछली कुछ शताब्दियो मे बाह्य प्रभाववश अस्पृश्यता की भावनाएँ बनी और फिर धीरे-धीरे रूढ हो गई। अब उन्हे फिर से मूल परम्परा तक ले जाना कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ सस्कारो का महत्त्व भगवान् महावीर के क्रान्त दर्शन से भी अधिक हो गया है। आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथाकथित अस्पृश्य व्यक्तियो को भी अपने सम्पर्क मे लेना प्रारम्भ किया, तब बहुत से व्यक्तियों के मन मे एक मूक, किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छापर मे हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती मे व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हे समझाकर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती मे किसी साधु को भेजे जाने का यह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पडा, किन्तु उनका मन समस्या-सकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियो ने मद्य-मांस आदि छोडा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकडों लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सवर्ण व्यक्तियो ने उनको बडे कुतूहल की दृष्टि

से देखा। उस दृष्टि मे स्वय उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे। उसी समय सकुचाते-से दूर खडे हरिजनो से किसी ने कहा—"देखते क्या हो; आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो!" कहने वाले की भावना मे क्या था, पता नही; परन्तु देखने वाले स्तब्ध खडे थे कि देखें; अब क्या होता है। आचार्यश्री अपने-आप मे स्पष्ट थे। हरिजन भाइयो ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नही। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते हैं। साधुओ मे भी इसकी हलचल कम नही थी।

पारमार्थिक शिक्षण-सस्था

पारमार्थिक शिक्षण-सस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक पक्ष बाद ही (स० २००५ की चैत्र कृष्णा तृतीया को) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता की ओर से दीक्षार्थियो को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस सस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनो तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय मे आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचकों ने उसी बात को पकडा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियो के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय मे मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है। वह मैं करता हूँ। सस्था मे चलने वाली बाकी प्रवृत्तियो से मेरा सम्बन्ध नही है। यहाँ तक कि सस्था मे किसे लिया जाये और किसे नही; यह निर्णय भी स्वय सस्था के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को सस्था मे रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नही करूँगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नही है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस सस्था मे रहे तो मैं कोई

वाधा नही देखता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई वाधा नहीं है।

वाह्य संघर्ष

आचार्यश्री को आन्तरिक सघर्षो की तरह ही वाह्य सघर्षो का भी सामना करना पडा है। तेरापथ के लिए ऐसे सघर्ष नवीन नही हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन सघर्षो का रूप अवश्य वदलता रहा है, परन्तु विरोधीजनों की भावना की तीव्रता सम्भवत कम नही हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने सघ की सारी शक्ति को निर्माण मे लगा देना चाहते हैं। पारस्परिक सघर्षों मे शक्ति खपाना उन्हे बिलकुल अभीष्ट नही है। इसीलिए यथासम्भव वे सघर्षो को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियो मे भी वे सामजस्य का सूत्र खोजते रहते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे विरोधो का सामना कर नही सकते। उनके सामने अनेक विरोध आये हैं और उन्होंने उनका वडे सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त हैं, अत जहाँ उसकी प्राप्ति होती है, वहाँ कट्टर विरोधी की वात मानने मे भी वे कभी हिचकिचाहट नही करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी वात नही मानते। सत्याश की अवज्ञा और असत्याश को प्रश्रय उन्हे किसी भी परिस्थिति मे इष्ट नही है।

विरोध के दो स्तर

तेरापथ की मान्यताओ को लेकर अनेक आलोचनाएँ होती रहती है। उनमे वहुत-सी निम्नस्तरीय होती हैं। आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं, किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती हैं, उनका वे आदर करते हैं। अपनी आलोचना मे लिखी गई वातों को वे वडे ध्यान से पढते हैं, उन पर मनन करते हैं। आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढंग से उसका प्रतिवाद भी करते हैं। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मान कर सौहार्द-पूर्ण ही मानते हैं।

निम्न कोटि की आलोचना मे बहुधा इतर सम्प्रदायो के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते हैं। उनमे कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अपने-आपको किसी भी सम्प्रदाय का न कहें, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्वय को तेरापथी कहें; पर उन सबका ध्येय प्राय विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियो का भी उपहास करते हैं, जिनको कि वे ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनो मे व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगो ने उस प्रवृत्ति का मजाक—"कौआ चले हस की चाल' कह कर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगो ने उसे 'नयी बोतल मे पुरानी शराब' बतलाया। ऐसे व्यक्ति अँधेरा-ही-अँधेरा देखते रहने के आदी हो जाते हैं। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँटे ही नही पड़ती, या फिर अपने स्वभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नही करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृही-जीवन से विरक्त हो जाते हैं, वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्राय. सभी भारतीय सम्प्रदायो मे है, तेरापथ मे भी है। तेरापथ इन दीक्षाओ मे विशेष सावधानी बरतता है। इसमे केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावको की लिखित स्वीकृति के विना किसी को दीक्षित नही किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक-ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणो की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसको जन-समूह मे दीक्षित किया जाता है। तेरापथ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है, परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है, तब तो वह और भी सहज हो जाता

है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, कही 'बाल दीक्षा' के नाम पर, तो कही साधु-सस्था को ही अनावश्यक बताकर। तेरापथ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे हैं। कही-कही ये विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध ही लगते हैं; पर अन्तरंग मे ये तेरापथ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी कोटि का था।

वि० स० २००६ के जयपुर चातुर्मास मे आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति सम्भवत. विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हे यह अवसर मिल गया। उन लोगो ने 'बालदीक्षा-विरोधी समिति' का गठन किया। हालाँकि उन दीक्षार्थियो मे एक भी ऐसा बालक नही था जिसके लिए उन्हें विरोध करने को बाध्य होना पडे, फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुत वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ-काल था। आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार मे पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क मे आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियो ने भी उनके कार्यक्रमो को सराहा और देश के लिए उन्हे उपयोगी माना। यह कुछ व्यक्तियो को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप यह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियो आदि द्वारा कार्य मे परिणत की जाने लगी। समाचार-पत्रो मे भी एतद्-विषयक विरोधी लेख-टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गई। जनता को बडे पैमाने पर भ्रान्त करने का यह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

आचार्यश्री को इस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगो मे फैलायी जाने वाली भ्रान्त धारणाओ का निराकरण

करना आवश्यक था, अत. उन्ही दिनों मे जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमे आचार्यश्री ने तेरापथ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय मे उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते हैं और न सारे युवक या वृद्ध ही। कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा मे अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नही होता, जितना कि सस्कारो की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए; यह मेरा मन्तव्य नही है। इस विषय मे मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नहीं होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यो न हो।

विरोधी समिति के सदस्यो को भी आह्वान करते हुए आपने कहा कि वे दूर-दूर से ही विरोध क्यो करते हैं ? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन मे विश्वास न करने वालो मे नही हूँ, देश-काल की परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ नही हूँ, पर साथ मे यह भी कह दूं कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह मे बह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा मे विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे इस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये। बातचीत हुई; परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप मे ही सामने आया। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानो को बुलाया गया। विरोधी सभाएँ आयोजित की गईं। धुआँधार भाषण किये गए। पैम्फलेटो, समाचार-पत्रों तथा पुस्तिकाओ द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापथ से या तेरापथ की प्रगति से विरोध रखने वाले

प्राय: सभी व्यक्तियों का उन्हें समर्थन और सहयोग प्राप्त था। उन सब ने मिलकर एक ऐसा मोर्चा बना लिया था कि जिससे दीक्षाओ को रोक कर तेरापथ को पराजित किया जा सके।

विरोध मे से गुजरते समय विश्रृंखलित समाज भी सगठित बन जाता है। तेरापथ तो फिर एक सुसगठित धर्म-सम्प्रदाय है। ज्यो-ज्यो लोगो को इस विरोध का पता लगता गया, त्यो-त्यो वे जयपुर पहुँचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति मे नही रुकेगी। दीक्षा की घोषित तिथि ज्यो-ज्यो समीप आती गई, त्यो-त्यो जनता बढती गई। वातावरण मे गरमी भी बढती गई। जनता को शान्त रखना कठिन अवश्य हो रहा था, पर वह आवश्यक था, इसलिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—"हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नही होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं, अत पथ की समस्त बाधाओ को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाडा ही जा सकता है, सुधारा नही जा सकता। मैं यह नही कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें, मैं तो यह कहता हूँ कि विरोध का सामना अवश्य करें, परन्तु अहिंसक ढग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढाना चाहे और आप उत्तेजित हो जायें तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी, यदि आप उस समय भी शान्त रहे तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढे, वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है; यह उसके सोचने की बात है, पर हमारा मार्ग सदैव शान्ति का रहा है और इसी मे हमारी सफलता के बीज निहित हैं।"

दीक्षा के विषय मे भी जनता को आचार्यश्री ने बताया कि यदि दीक्षार्थी दृढ-सकल्प होंगे तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नही रोकी जा सकेगी। विरोधी जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते हैं कि वे दीक्षार्थियो को निर्णीत समय तक मेरे पास न पहुँचने दें। उस स्थिति

में दीक्षार्थियों को स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक आत्म-भाव है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है। गुरु तो उसमें केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा के अवसर पर किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मात्र ही होते हैं। उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तथाकथित सत्याग्रह आदि।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रवोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओं को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षार्थियों को मार्ग-दर्शन दिया। विरोधियों के समस्त शस्त्र इस पर टकराकर व्यर्थ हो गए।

दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाएँ हुई। किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं हुई। तेरापंथ के लिए वह एक कसौटी का अवसर था। विरोधी जनों के इतने सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित विरोध को परास्त कर देना सामान्य बात नहीं थी। यह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवतः अन्तिम भी।

इस विरोध में कई समाचार-पत्रों के संचालक और सम्पादक भी थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अनुकूल विचार जाते थे; वहाँ दूसरी ओर बाल-दीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बालदीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक हैं और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आपको केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं। यह योग्यता क्वचित् बालक में भी हो सकती है तथा क्वचित् युवा और वृद्ध में भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नहीं सकती—इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं।

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं; उन्हें वे कुछ नहीं कहना चाहते; परन्तु जो किसी एक ही अवस्था में; चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था, दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं; उनसे वे पूछना चाहते हैं कि

ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नही मान लेते हैं ? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-सस्कार अमान्य हो सकते हैं ? यदि पूर्व-संस्कार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक मे भी उद्बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है ? पूर्व सस्कारो के उद्बोध की फलपरिणति का नाम ही तो है। उसमे अवस्था का प्रश्न मुख्य नही, गौण रह जाता है ।

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना के साथ सगति बिठा कर ही चलते हैं, परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मीचना भी तो उचित नही होता। वे इसी आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते हैं; वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सम्बन्ध जोडने का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि मे यह भी उचित नही है कि कानून द्वारा बाल-दीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यो की विधान-परिषदों मे इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

बम्बई विधान-परिषद् मे 'बाल सन्यास-दीक्षा प्रतिबन्धक बिल' आया था। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्यमन्त्री थे। उस बिल के सिलसिले मे मुनिश्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारो का आदान-प्रदान हुआ तो पता लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही कानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी हैं। उनकी इस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित नही हो सका था। उन्होंने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यो के सम्मुख जो भाषण[1] दिया था, वह विचारो की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढते समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्गार भाषान्तर से उन्होंने कहे थे। उनके भाषण का कुछ अश यहाँ दिया जा रहा है :

"...पहले हमे इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत मे यह ग़लत है कि बालक सासारिक जीवन का परित्याग करे ? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त मे विश्वास रखते हैं, तो जो बालक बाल-

---

१. ता० ६ सितम्बर ५५ और ता० १२ सितम्बर ५५ को यह भाषण दिया गया था।

दीक्षा के पूर्व संस्कारो के सहित जन्म लेता है, उसे ससार-परित्याग में कोई बाधा नही हो सकती । उन व्यक्तियो के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण हैं, जिन्होने बचपन मे सन्यास दीक्षा-ग्रहण की । मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं, लेकिन मैं उन्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि ससार का भला करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही हैं ।

इसी प्रकार ससार का भला बहुत थोडे आदमियो से ही हुआ है, बहुतों से नही, और संसार को छोडने वाले भी बहुत से आदमी नही हो सकते । ···नाबालिग़ का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नही होता जो किसी चीज़ को न समझे । नाबालिग़ वह है जो २१ वर्ष से नीचे का हो और अगर वह ससार को छोडना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके । ··नाबालिग भी हमसे ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है । हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है । ससार मे अद्‌भुत बालक हुए हैं । वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं । हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि चूंकि हम वयस्क हो चुके हैं; अत अधिक बुद्धिमान् हैं । ··मैं यह नही कहता कि हरएक बालक बुद्धिमान् होता है और हरएक बालक यह समझता है । ऐसा कभी नही होता । मेरे विचार से बहुत थोडे बालक ऐसे होते हैं । फिर भी यह कानून उनकी उन्नति मे रुकावट डालेगा, अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नही कर सकेंगे, जब कि उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए तडपती हो ।···भारतीय सस्कृति एव सभ्यता के विकास मे साधु-सघ की बहुत बडी देन है । मुझे यह कहने मे भी हिचकिचाहट नही है कि साधु-सस्था मे बहुत से दोष भी आ गये हैं । लेकिन एक वस्तु का उपयोग या दुरुपयोग हो सकना उस चीज को बिल्कुल मिटा देने का कारण या आधार नही हो सकता ।···हम यहाँ तमाम लोग सोच रहे हैं कि सिर्फ वयस्क ही ऐसे हैं जो बुद्धिमान् हैं और बच्चे नही । हम भूल जाते हैं कि ज्ञानेश्वर ने १६ वर्ष की आयु मे 'ज्ञानेश्वरी' को लिखा था

और बहुत से बालिग पुरुष शताब्दियो के बाद भी आज उनकी पूजा कर रहे हैं। ऐसा एक ही उदाहरण नही है, ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। महामना रायचन्द्र ने, जिनमे महात्मा गाधी श्रद्धा रखते थे, १२ से १६ वर्ष की आयु में लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पढी जाती हैं। वे सन्यासी नही थे, लेकिन निरन्तर जीवन अपनी पसन्द के अनुसार विताते थे। इससे कोई मतलब नही कि ऐसे आदमी संन्यास लेते हैं या नही। मान लीजिये, कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क्या मुझे उसे रोकना चाहिए ? ' यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो उदाहरण दिये है, वे प्राय जैनो के हैं और किसी के नही। इसलिए अगर जैनी यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उनके द्वारा जो दीक्षाएँ दी जाती हैं उन्ही को रोकने के लिए है तो वे ग़लत नही कहे जायेंगे। मेरे पास सैकडो विरोध-पत्र व तार पहुँचे हैं और वे तमाम जैनो के हैं, लेकिन एक दूसरी बात और है जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। साधु या सन्यासियों के तमाम सघो मे, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओ ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी सघ के साधुओ ने नही। यह जैनियो के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायो पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एक मत नही, आक्रमण करने से कोई फायदा नही। मुझे किसी व्यक्ति को सन्यास-जीवन अपनाने से नही रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नही अपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हरएक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर संन्यासी लोग कहे भी कि सासारिक जीवन अच्छा नही है, तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूँ। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अत. किसी को भी सन्यासी नही होना चाहिए। जिस

तरह मैं अपने जीवन मे उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरो को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हो।' 'मैं यह नहीं सोचता कि शकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियो के रास्ते मे रोडा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योकि अगर हम ऐसा करते हैं तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नही, वल्कि ससार को ऐसे महान् व्यक्तियो से वचित करते हैं। मैं नही सोचता कि हमे सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगो को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यो न हो ?

...धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नही जा सकता। जब हम कहते है कि वच्चो को इन क्षेत्र मे नहीं जाने देना चाहिए, तब हमे यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें वहुत से दूसरे क्षेत्रो मे जाने देते हैं। क्या हमने वच्चो को स्वतन्त्रता के सग्राम मे भरती नही किया और उस सग्राम में लम्बे समय तक लगाकर उनके भावी जीवन के सारे विकास को नही रोका ? क्या यह उनकी भावना जगाने का प्रश्न नही था ? क्या हम यह सोचते हैं कि हम वच्चो का ग़लत उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहे थे ? विल्कुल नही। यह एक महान् कार्य था। महात्माजी ने वच्चो से गहने ले लिये और उनको आशीर्वाद दिया। क्या वे वच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है कि वच्चे सही काम कर रहे थे और महात्मा गाधी हमारी भावी सन्तान को महान् वलिदान व त्याग की शिक्षा दे रहे थे, लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि वह सव सही था। मैं उसमे कोई दोप नही पाता। जव कभी हम मनुष्यो को व वच्चो को अच्छी वातो की शिक्षा दे रहे हो, तो मैं समझता हूँ कि हमे इसका अनादर नही करना चाहिए, वरन् स्वागत करना चाहिए[1]।" ये विचार दीक्षा के समर्थको और विरोधियो

---

१. जैन भारती, १८ दिसम्बर '५५

दोनो के लिए ही मननीय हैं। इस भाषण मे जिन तथ्यो का निरूपण है बहुधा वे ही तथ्य आचार्यश्री सबके सामने रखते रहे है। उनके इन विचारों से सभी सहमत हो—यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पर उसमे रहे तथ्यो की अवहेलना कैसे की जा सकती है? इन विचारो ने जो अनेक सघर्ष खडे किये है, उनमे से एक यह जयपुर का सघर्ष भी था। उठा तो वह तूफान की तरह था, परन्तु किन्ही ठोस तथ्यो पर उसका आधार नही था, अत उसकी समाप्ति फुटपाथ पर किसी अनाथ व्यक्ति की मृत्यु के समान ही हुई।

एक अकारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महानगरी मे पदार्पण हुआ। जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को आलोकित कर रहे थे, क्योंकि उनके विचार युग की भूख को तृप्ति प्रदान करने वाले थे। यो भी कहा जा सकता है कि युग की भूख उन विचारो को पाने के लिए तडप रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारो के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप मे देखा। वहाँ के व्यापारिक क्षेत्रो मे नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। जहाँ लोग बहुधा व्यापार या नौकरी के लिए ही पहुँचते हैं, वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की अलख जगाने पहुँचे तो वह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्यश्री इसीलिए वहाँ गए थे, अत एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी मे सहज ही जागृत होने लगा था। जो परिचित थे वे तो आते ही, पर जो अपरिचित थे वे भी काफी बडी सख्या मे आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर जाते।

चातुर्मास से पूर्व उस महानगरी के अनेक अचलो मे आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होने भी जनता को वह उपदेश दिया जो उसे वहाँ कभी भूले-भटके भी नही मिल पाता। विशेष प्रवचनो तथा कार्यक्रमो की सफलता

भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री को कलकत्ता और कलकत्ते को आचार्यश्री भा गए।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशो-गाथा के प्रति असहिष्णु थे । वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नही किया था, तब तक तो वे लोग प्राय शान्त ही रहे थे। सम्भवत उन्होंने उस थोडे दिन के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो, अत उसकी उपेक्षा कर दी हो, परन्तु जब आचार्यश्री ने वही वर्षा-काल बिताने का निर्णय कर दिया तब उनके प्रयत्नो मे त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-किसी बहाने मे आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहते थे कि जिससे उनके पूर्वोपार्जित समस्त वर्चस्व और प्रभाव को आवृत किया जा सके।

उन विरोधी व्यक्तियो मे कुछ तो ऐसे थे जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यों का जब तब विरोध करते रहे हैं। उसमे उन्होंने सच-झूठ का भी कोई विशेष अन्तर नही किया है । यों उनमे अनेक व्यक्ति पढे-लिखे हैं, कार्य-कुशल हैं, शिष्ट हैं; परन्तु आचार्यश्री के विरोध मे वे अपनी शिष्टता को बहुधा नही निभा पाते। सम्भवत उसकी आवश्यकता भी नही मानते हो। यद्यपि मैं उनमे से अनेकों को व्यक्तिश नही जानता, परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे, उनके भाषा-प्रयोगो ने कम-से-कम मेरे मन पर तो यही छाप छोडी है। मूलत· विरोधी भाव उन्हीं कुछ लोगो के मन मे था। उन्होंने जब वैसा वातावरण बनाया तब कुछ और व्यक्ति भी उसमे आ मिले। कुछ उनके मैत्री-सम्पर्क से, तो कुछ भुलावे से।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का साहस उससे भी विचित्र था। वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों में लगे रहे। वे स्वय भी तो कलकत्ता मे विरोध करने के लिए ही गये थे। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनीति और अधर्म का विरोध कर रहे

थे, जबकि उनके विरोधी लोग अनीति और अधर्म का विरोध करने वालो का विरोध कर रहे थे।

आचार्यश्री के विरुद्ध यह अभियान लगभग छः महीने तक चलता रहा होगा। कभी धीमे, तो कभी तेजी से। पर न कभी वे उससे उत्तेजित हुए और न कभी भयभीत। वे विरोध को विनोद समझ कर चलने के आदी हैं। जहाँ उन्हें किसी विरोध का सामना करने को वाध्य होना पड़ता है, वहाँ वे उसके लिए कभी घवराते नही। वे मानते हैं—"विरोध से घवराने की कोई आवश्यकता नही। उससे घवराने वाले समाप्त हो जाते हैं और उठकर उसका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते हैं[1]।"

१. नैतिक सजीवन, पृ० ३६

: ६ :

जीवन शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पखुड़ी अपनी विशिष्ट आकृति और विशिष्ट महत्ता लिये हुए होती है। उन पखुडियो की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओ की पखुडियो से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप मे परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने से उच्च-पूर्णता का एक अग बनकर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा मे खडी पखुडियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती हैं, जब कि उसके बाहरी घेरे की बिखरी-बिखरी-सी। फिर भी मूल से बंधी हुई वे उससे अभिन्न होती है। जीवन-घटनाओ मे भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएँ एक ही किसी क्रम मे ढलकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती हैं, पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अग होने पर भी अलग-थलग-सी लगती हैं। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हे ऐसा बना देता है। फिर भी पखुडियो के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय मे आचार्यश्री के जीवन शतदल की उन अलग-थलग दिखायी देने वाली स्फुट घटनाओ का दिग्दर्शन कराया गया है। आचार्यश्री का जीवन किसी एक बँधी-बँधाई परिपाटी का जीवन नही है। वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमे घुमाव है, कटाव है तथा नव-निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब मे व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-सकुल है। उन घटनाओ के प्रकाश

में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणो से देख सकते हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और आकृति प्रदान करता है, उसी तरह इन छोटी-छोटी स्फुट घटनाओ की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली हैं। यहाँ कुछ घटनाएँ सकलित की गई है।

शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है, वहाँ वाह्य सौन्दर्य भी कुछ कम नही। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है, इसीलिए उनके शारीरिक अवयवो की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कलाकृति के समान है। साधारण व्यक्तियो की आँखें उनकी आकृति पर टिकें, यह कोई आश्चर्य की वात नही है, किन्तु दार्शनिको और विद्वानो को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान मे आचार्यश्री के पास आये। कई दिनो तक नाना दार्शनिक विपयो पर विमर्पण होता रहा। जव वे विदा होने लगे तो वोले—"सभी तृप्तियो के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे है।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—कौनसी अतृप्ति ?

उन्होने कहा—मुखवस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्ण मुख का दर्शन नही कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमे प्रतिदिन पूर्ण-दर्शन के लिए उत्सुक करता रहा है। हमे आज सकोच छोडकर यह कहने को विवश होना पड रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय वाधा न हो तो क्षण-भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें।

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपा-

ध्यक्ष श्री वुडलेण्ड व्हेलर बम्बई मे सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री व्हेलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे तब श्रीमती व्हेलर आचार्यश्री के नेत्रो की ओर बडी उत्सुकता से देख रही थीं। बातचीत की समाप्ति पर श्रीमती व्हेलर ने कहा—मुझे बहुत लोगो से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रो मे है, वैसा अन्यत्र कही देखने मे नही आया। निस्सन्देह आपके नेत्रो का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाली है।

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की लब्ध-ख्याति चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर दिल्ली मे जब मेरे सम्पर्क मे आयी तब उन्होंने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शान्ति निकेतन' मे अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट होगई थी। आचार्यश्री अपनी बगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सास्कृतिक व ऐतिहासिक सग्रहालय तथा शान्ति निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिजाबेथ अन्दर जा रही थी। एक क्षरण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुई कि पुन कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहर कर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था। वे ऐसा करने के लिए क्यो प्रेरित हुई, उन्होंने इस विषय पर एक लेख भी लिखा, जो कि कलकत्ता के पत्रो मे प्रकाशित हुआ था। उस लेख मे उन्होंने बतलाया है —"शान्ति-निकेतन मे जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची तो उधर से आते व्यक्तियो के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे, जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बँधा हुआ था। मैं आदर पूर्वक एक ओर खडी हो गई। वे निकट पहुँचे। मुझे शान्ति अनुभव हुई। उन्होंने मेरे नाम व देश के विषय मे प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि

उनकी आँखें वडी तेज हैं।"

एक विदेशी कलाकार महिला की यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जहाँ असाधारणता की द्योतक है, वहाँ उनके रूप सौन्दर्य का एक ज्वलन्त उदाहरण भी।

ठीक बुद्ध की तरह

एक वार आचार्यश्री सरदारशहर पधार रहे थे। उन्हीं दिनो सरदार-शहर मे एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था। अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यो ने उस मे भाग लिया था। उनमे से कई व्यक्तियो ने सरदारशहर से आकर मार्ग-स्थित ग्रामो मे आचार्यश्री के दर्शन किये। उनमे जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवैद्य नन्दकिशोरजी भी थे। आचार्यश्री से उन लोगो ने विविध विषयो पर वार्तालाप किया और पूर्ण तृप्ति के साथ जव वापस जाने के लिए खड़े हुए, तव नन्दकिशोरजी ने कहा—"आचार्यश्री के कानो की वनावट ठीक भगवान् वुद्ध के कानों की तरह है। मैंने कानो की ऐसी सुषमा अन्यत्र कही नहीं देखी।"

आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण मे लगकर भी आत्म-निर्माण को गौण नही वनाया है। वे अपने जीवन को आगे वढाकर जीते रहे हैं और सिंहाव-लोकन-पद्धति से अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं। ध्यान, योगासन आदि क्रियाएँ उनके आत्म-निर्माण के ही अग हैं। इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है।

वे सात्त्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे हैं। अपने आहार पर उनका वहुत अधिक नियन्त्रण है। यथासम्भव वे वहुत स्वल्प द्रव्यो से तृप्त हो जाते हैं। अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कड़ाई से ध्यान देते रहे हैं। जव कोई कॉंटा या ककर उनके पैरो मे लग जाता है, तव वे वहुधा यह कहते सुने जाते हैं कि यह तो ईर्या-समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्खलनाओ को वे आत्म-नियन्ता वनकर दूर

करते हैं । निन्दा और प्रशंसा से अक्षुब्ध रहते हुए वे अपनी गति को बनाये रखने में सर्वथा समर्थ हैं । यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है ।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य में खो-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उसका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी-हॉल में उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर उस कार्यक्रम में आदि से अन्त तक उपस्थित रही। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उनसे कहा—"तुम हिन्दी नहीं समझती, फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बैठी रहती हो ?" उसने उत्तर देते हुए कहा—"प्रेम की भाषा अलग ही होती है। मैं उसे समझती हूँ। हर कोई उसे नहीं समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।"

प्रखर तेज

ब्यावर में 'अणुव्रत प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के लब्ध-प्रतिष्ठ कार्यकर्ता श्रीरामनारायण चौधरी ने कहा—"मेरे दिमाग में कल्पना थी कि आचार्यश्री तुलसी कोई वृद्ध मनुष्य होंगे, पर आज ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।"

शक्ति का अपव्यय क्यों ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का आयोजन था। उसके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थीं। विधान सभा के उपाध्यक्ष निरञ्जननाथजी को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने उस कार्य को अपमान-जनक समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे—"यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर कानूनी कार्यवाही करेंगे।"

आचार्यश्री ने कहा—"हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो, यह मैं नही चाहता। किसी को इस प्रकार की आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी बात यह भी है कि इन तुच्छ घटनाओं मे हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करना चाहिए ?"

प्रशंसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये है, किन्तु मैं लोगों के बीच आपकी बहुत प्रशंसा करता रहा हूँ। अनेको व्यक्तियों को मैंने आपके सम्पर्क मे आने की प्रेरणा दी है।

आचार्यश्री ने कहा पुरोहितजी ! हमे अपनी प्रशंसा नही चाहिए। हम उसका क्या करें ? हम तो चाहते हैं कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी मे उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।

क्या पैरो में पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया तो सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला भी विदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग मे वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते, तब पैर रोक लेते। बिड़लाजी ने समझा सम्भवत पैरो मे पीड़ा है, जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ तो उन्होंने पूछ लिया—क्या पैरो मे पीड़ा विशेष है ? आचार्यश्री ने कहा—नहीं तो, कोई भी पीडा नही है। बिडलाजी ने तब साश्चर्य पूछा—तो आप रुक-रुक कर क्यो चल रहे हैं ? आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है, अत. जब-जब बोलने का अवसर आता है तब-तब मैं रुक जाता हूँ। बिडलाजी ने क्षमा माँगते हुए कहा—तब तो मुझे भी नही बोलना चाहिए था।

शान्ति वादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशान्ति को न वे चाहते हैं और न दूसरो के लिये पैदा करते हैं। जहाँ अशान्ति की सम्भावना होती है, वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शान्तिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के आरम्भ मे ही उनकी शान्तिप्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर मे किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया, तब कई हजार व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध रागडी चौक की सडक जन-सकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के आचार्य आ गए। उनकी नीति सदा से ही तेरापथ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नही आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई बडे अपमानजनक ढग से 'हटो-हटो' करते हुए आगे बढे। आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको चीर कर आगे बढने के इरादे से इधर वाले भाइयो मे बडी उत्तेजना फैली, परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को परोटा और सडक छोडकर एक ओर हो गए। साथ के जन-समुदाय के लिए इधर-उधर हटने का कोई स्थान नहीं था। फिर भी आचार्यश्री ने उन्हें शान्त रहने तथा उनका मार्ग न रोकने का निर्देश किया। सडक पर के सभी व्यक्तियो ने एक-दूसरे से सटते हुए उनके लिए मार्ग खाली किया। दूर तक केवल दो आदमी गुजर सकें; इतनी-सी पट्टी मे से वे लोग 'विजय' का गर्व करते हुए गुजरे। यदि आचार्यश्री उस समय शान्ति न रख पाते; तो झगडा अवश्यम्भावी था। उस कार्य की जन-प्रतिक्रिया यह रही कि आचार्यश्री ने बडी समझदारी और शान्ति से काम लिया। स्वयं दूसरे पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने भी आचार्यश्री के

कार्य की प्रशंसा की और अपने पक्ष की नीति की आलोचना की। यह उनकी शान्तिवादिता की जन-साधारण के लिए प्रथम झलक थी।

स्वाध्याय ही सही

नवलगढ़ में रात्रिकालीन व्याख्यान बाजार में हुआ और शयन पास के दिगम्बर मन्दिर में। जनता ने अगले दिन फिर वहीं व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया, आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी। जब दूसरे दिन साय बाजार में पहुँचे तो सुना कि वहाँ किसी वैष्णव साधु का व्याख्यान होने वाला है। आचार्यश्री कुछ असमंजस में पड़े, पर तत्काल ही निर्णय कर लिया कि चलो; आज रात को मन्दिर में स्वाध्याय ही करेंगे। कुछ लोगों ने आकर कहा—आप भी यहीं ठहर जाइये। हम दोनों का ही व्याख्यान सुन लेंगे। आचार्यश्री ने कहा—"यद्यपि एक सभा में दो धर्मावलम्बियों के व्याख्यान आजकल कोई आश्चर्य का विषय नहीं रहा है; फिर भी यहाँ जिस ढंग से यह कार्यक्रम रखा गया है, उससे मुझे लगता है कि उसके पीछे कोई विद्वेष-बुद्धि काम कर रही है। ऐसी स्थिति में वहाँ व्याख्यान देने से शान्ति रहना कठिन है।" आचार्यश्री वहाँ नहीं ठहरे और मन्दिर में चले गए।

जब उन वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा तो आदमी भेजकर कहलाया कि मुझे यह पता नहीं था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझसे आग्रह करने वालों ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया, पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पूर्व-निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझसे सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है; आज यदि लोग उनको सुनें तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नहीं है। इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे।

आचार्यश्री फिर भी वहाँ नही गये, तब बाजार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुन निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशान्ति का भी भय नही रहा है। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शान्ति का मार्ग

सौराष्ट्र मे जिन दिनो विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र मे धर्म-प्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालो मे वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये तो उनके मन मे यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेगे ? मुनिजनों को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हें यह पता नही था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देंगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नही था।

आचार्यश्री ने पूछा—कहिये, सौराष्ट्र मे कैसी स्थिति है ? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है ? इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमजस मे डाल दिया। वे कुछ सोच नही पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है ? फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है, किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति मे पूर्ववत् तीव्रता नही रह सकी है।

आचार्यश्री ने उन्हे आश्वासन देते हुए कहा—यह कोई चिन्ता की बात नही है। हमे अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं, इस ओर ध्यान न देकर, हमें क्या करना चाहिए—यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमे विरोध का शमन विरोध से नही, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शान्ति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—गुरुदेव ! मुझे तो यह भय था कि आप कडा उलाहना

देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियो के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होगे, किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

गहराई में

आचार्यश्री अनेक वार साधारण-सी वात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमे दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण से साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर वन जाती है। साधारण व्यक्ति वहुधा घटना के वहिस्तल को ही देखता है जव कि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

पीछे से भी

एक वार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार वैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के वाद थोडा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अव कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खडे होकर सामने दूर तक नजर फैलाते हुए कहा—अव कुहासा मिटने में अधिक देरी नहीं है। यह वात चल ही रही थी कि इतने मे पीछे से रुई के फाहे जैसे कुहासे के वादल उमड आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने इस वात को गहराई तक ले जाते हुए कहा—आगे सव देखते हैं, पर पीछे कोई नही देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि यह प्राय. सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान मे ठहरे थे, उसकी एक पैडी वहुत खराव थी। अपनी असाववानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियो ने उससे

चोट खायी । चोट खाकर अन्दर आने वाले प्राय. हर व्यक्ति ने उस पैडी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा ।

पैडी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्‌गारो को सुनकर आचार्यश्री ने उस वात को गहराई तक पहुँचाते हुए कहा—परदोप-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोप-दर्शन कितना कठिन, यह इस पैडी की वात ने सिद्ध कर दिया है । हर कोई चोट खाने वाला पैडी को दोप देता है, जव कि वस्तुत दोप अपनी असावधानी का है । पैडी की वनावट मे कुछ कमी हो सकती है, फिर भी कुछ दोप अपनी ईर्या का भी तो है ।

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण पहले-पहल जव जयपुर मे आचार्यश्री से मिले थे, तव सफेद टोपी पहने हुए थे, किन्तु जव दूसरी वार दिल्ली मे मिले, तव लाल टोपी पहने हुए थे । वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे लगायी हुई है ? जयप्रकाशजी ने कहा—हमारी पार्टी वालो ने यही निर्णय किया है । सफेद टोपी अव वदनाम सी हो चुकी है ।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—"टोपी वदनाम हो गई, इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रग वदल दिया, परन्तु वदनामी के काम तो टोपी नही, मनुष्य करता है । उसको वदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना वनायी है ?"

सम्प्रदाय : धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे, मार्ग मे एक विशाल आम्र-वृक्ष आ गया । सन्तो ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—यह वृक्ष वहुत वडा है ।

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे —एक मूल मे ही कितनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकल जाती हैं । धर्म-सम्प्रदाय

भी इसी प्रकार एक मूल मे से निकली हुई शाखाएँ होती हैं, परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगडा नही है; जबकि सम्प्रदाय मे नाना प्रकार के झगडे चलते रहते हैं। शाखाएँ वृक्ष की शोभा है। उसी प्रकार सम्प्रदायो को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डा० रामनारायण खन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। उन्होंने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनाई। बातचीत के क्रम मे वे थोडी-थोडी देर के बाद 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवत. उन्होंने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा, पर अब वह उनके लिए एक मुहावरा बन चुका था। आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया तो कहने लगे—डाक्टर साहब ! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा? 'रामकृपा' 'प्रभुकृपा' आदि शब्दो को भक्ति-सभृत हृदय के उद्गारों से अधिक महत्त्व देने पर स्वय प्रभु को भी राग,द्वेष-लिप्त मान लेना होगा। अहं-भाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएँ आवश्यक हैं, तो क्या अकर्मण्यता और हीन भाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नही मानना चाहिए ? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है, पर क्या अपने आपको न मानना उतनी ही बडी नास्तिकता नही है ?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पडे। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक बिल्कुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमे आचार्यश्री के विषय मे बहुत-सी अनर्गल बातें लिखी हुई थी। उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होंने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे—यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादकों पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—कीचड मे पत्थर फेंकने से कोई

लोभ नही । मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूँ, अत. मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानो से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भूख नहीं सताती

एक बार आगरा सेन्ट्रल जेल मे उनका प्रवचन रखा गया। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना थी; अत भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होने किसी को कुछ निर्देश नही दिया। संयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसीलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होंगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नही था ।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ गई थी। सडक पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयो को झेलते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी, अत आते ही उनका पहला प्रश्न था—क्या अभी तक भिक्षाचरी के लिए तुम लोग नहीं गये ? सन्तों ने कहा—कुछ निदश नही था, अत हमने सोचा अभी आ ही रहे होगे, प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा मे समय निकल गया। आचार्यश्री ने थोडी सी आत्म-ग्लानि के साथ कहा—तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना। सन्तो ने कहा—आप भी तो अभी निराहार ही हैं। आचार्यश्री बोले—हाँ, निराहार तो हूँ, पर काम के सामने कभी भूख नही सताती।

फोटो चाहिए

आचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—मुझे नैतिक कार्यों मे बडी अभिरुचि है। मैंने अपने घर मे उन्ही लोगो के फोटो विशेष रूप से लगा रखे हैं; जिनकी सेवाएँ ससार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे मे लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए ।

आचार्यश्री ने कहा—फोटो का आप क्या करेंगी जब कि मैं स्वय ही

आपके घर मे बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि मे वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य की आकृति को न पूजकर उसके गुणो का या कथन का अनुसरण किया जाना चाहिए।

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियो मे प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउन्टेनपेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढाते हुए विद्यार्थियो ने कहा—आप इसमे हस्ताक्षर कर दीजिये।

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—देखो बालको! मैंने अभी जो बातें कही हैं, उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।

गर्म का बिगाड़

एक प्याले मे दूध पडा था और उसके पास मे ही अचित्त किया हुआ नीबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—क्या नीबू के रस से दूध तत्काल फट जाता है?

पास खडे एक साधु ने कहा—फट तो जाता है।

आचार्यश्री ने नीबू लिया और थोडा-सा दूध लेकर उसमे पाँच-चार बूंदे डाली। दो-एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नही फटा।

एक साधु ने कहा—गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठडा है, शायद इसीलिए नही फटा।

आचार्यश्री ने इस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—ठीक ही है। ठडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नही बिगाड सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड़ हुआ करता है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम मे विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी किसी कार्य को भाग्य पर छोड कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते। वे भाग्य

को बिलकुल ही नही मानते हो, ऐसी बात नही है, परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम मे जुटे रहते हैं। दूसरो को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते है। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊँ

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों मे विश्राम नही ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओ ने निवेदन किया कि वैद्यों की राय है—आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय मे कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझसे यो सर्वथा निष्क्रिय होकर नही बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम मे तो मैं कही अधिक बीमार न हो जाऊँ?

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत ज्ञानी है। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नही?

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नही?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय मे शकाशील क्यो बन रहा है? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नही करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर मे ठहरे हुए थे। मध्याह्न मे एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढाते हुए कहा—आप तो सर्वज्ञ है, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नही?

आचार्यश्री ने कहा—मैं कोई ज्योतिषी नही हूँ जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ मे

लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका भविष्य बुरा हो ही नहीं सकता।

दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र पिघल जाते हैं। संघ-संचालक के लिए यह आवश्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों पर अपनी दयार्द्रता का परिचय दे। नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ उनके सम्मुख आती रहती हैं कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने योग्य होती हैं, तो कुछ नहीं। जिसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो, पर स्वाभाविक है। इन सब स्थितियों में से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना; उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है, पर उन्हें दूसरों का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव में दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता।

कैसे जा सकते हैं ?

मेवाड़-यात्रा में आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोडी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक गाम में प्रवचन देकर जब वे चलने लगे; तब एक वृद्धा ने आगे बढकर आचार्यश्री को कुछ रुकने का संकेत करते हुए कहा—मेरा 'मोभी बेटा' (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोडी देर ठहर कर उसे दर्शन दे दें।

लोगों ने उसे टोकते हुए कहा—आचार्यश्री को आगे जाना है। पहले ही काफी देर हो चुकी है। धूप भी प्रखर है, अतः वे अब नहीं ठहर सकते।

वृद्धा ने तुनकते हुए कहा—तुम कौन होते हो कहने वाले ? मैं भी तो सुबह से बैठी बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना ही कैसे जा सकते हैं ?

वृद्धा सचमुच ही रास्ता रोक कर खडी हो गई। आचार्यश्री ने उसकी

भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए। उन्होंने कहा—माँजी ! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चलें तो दर्शन हो जायेंगे।

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। आचार्यश्री उसके घर की ओर बढे, तो कुछ ही दूर पर वह लडका आता हुआ मिल गया। उसने अच्छी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा—क्यो माँजी ! अब तो हम चलें ?

वृद्धा गद्गद हो गई और वाष्पार्द्र नेत्रो से उसने विदाई दी।

बिना भक्ति तारो ता पं तारबो तिहारो है

सुजानगढ़ मे चाँदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था मे धर्म-विरोधी प्रकृति के थे। यो बडे समझदार तथा दृढ-सकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर मे राजयक्ष्मा से पीडित हो गए। उस स्थिति मे उनके विचारो मे भी परिवर्तन आया। उन्होंने आचार्यश्री से दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ गये, तब उन्होंने अपनी धर्म-विमुखता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कडी थी—'बिना भक्ति तारो ता पं तारबो तिहारो है' अर्थात्, भक्तो को तो भगवान् तारते ही हैं, पर मुझ जैसे अभक्त को भी तारें, तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी इस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके बाद स्वयं वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तो को भी वहाँ भेजते रहे।

द्वेष को विस्मृत कर दो

लाडनूं के सूरजमलजी बोरड पहले धार्मिक प्रकृति के थे। किन्तु बाद मे किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होने अनेक लोगों को भ्रान्त किया। परन्तु जब बीमार हुए तब उनके विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होने अपने कृत्यो की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें की। प्रसगवशात्

यह भी पूछा कि स्वामीजी के सिद्धान्तो मे कोई भ्रान्ति हो गई थी या कोई मानसिक द्वेष ही था ? यदि भ्रान्ति थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो अब से उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगो मे धर्म के प्रति भ्रान्तिया पैदा हुई हैं, उन्हे भी फिर मे सत् प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया कि मेरी श्रद्धा ठीक रही है, किन्तु मानसिक द्वेष-वश ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रान्त किया है; उनसे भी कहूँगा।

उसके बाद आचार्यश्री प्राय. प्रतिदिन उन्हे दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही तृप्त हुए। वे बहुधा अपने साथियो के सामने अपनी पिछली भूलो का स्पष्टीकरण करते रहे थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर मे आचार्यश्री का पदार्पण हो गया। उस बहन को अनशन मे आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की बडी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही विनती करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के बाद ही सन्तो मे कहा—चलो! उस बहन को दर्शन दे आयें।

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी, अत सन्तो ने कहा—रेत मे पैर जलेंगे, अत सन्ध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।

आचार्यश्री ने कहा—नही। हमे अभी चलना चाहिए। यद्यपि उसका घर दूर था; फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये। बहिन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोडी देर वहाँ ठहर कर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर बाद ही उस बहन के दिवगत होने के समाचार भी आ गए। आचार्यश्री ने सन्तो से कहा—अगर हम उस समय

नही जाते तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों मे हमे देर नहीं करनी चाहिए ।

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर ढाणी मे पधारे । बस्ती छोटी थी । स्थान बहुत कम था । कुछ झोपडे बहुत अच्छे थे, पर कई शीतकाल के लिए बिल्कुल उपयुक्त नही थे । आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोपड़े को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी । सन्तो ने दूसरे झोपडे का सुझाव दिया तो कहने लगे—हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं, अत पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है । अन्य साधुओ के पास प्राय वस्त्र कम ही मिलते हैं, अत. उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है ।

वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री मे जितनी दयालुता अथवा मृदुता है , उतनी ही दृढता भी । आचार्यश्री की मृदुता शिष्य वर्ग मे जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है; वहाँ दृढता—अनुशासन और आदर के भाव । न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढता से । दोनो का सामजस्य बिठा कर ही वे अपने कार्य मे सफल हो सकते हैं । आचार्यश्री ने इन कामो का अपने मे अच्छा सामजस्य बिठाया है । वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते हैं तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते हैं ।

कोई भी धर्म-श्रवण के लिए आ सकता है

एक बार आचार्यश्री लाडनूं मे थे । वहाँ कुछ भाइयो ने स्थानीय हरिजनो को व्याख्यान-श्रवण की प्रेरणा दी । वे आये तो उसमे कुछ लोगों ने आपत्ति की । कुछ इस कार्य के पक्ष मे थे तो कुछ विपक्ष मे । वातावरण मे गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढने लगा । तब यह बात आचार्यश्री तक पहुँची । उन्होने अत्यन्त स्पष्टता के साथ

चेतावनी देते हुए कहा—इस समय यह स्थान साधुओं की नेश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है तो वह वस्तुत मुझे ही रोकता है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जबकि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढाये थे। अब तो यह प्रश्न प्राय. समाप्त हो चुका है-कि व्याख्यान मे कौन आता है और कहाँ बैठता है ?

इस मन्दिर में भगवान् नहीं है

एक गाँव मे आचार्यश्री को एक मन्दिर मे ठहराने का निश्चय किया गया। वे जब वहाँ आये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर मे आ गए। पुजारिन ने जब यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उधर ध्यान ही नही गया। पर जब पता लगा तो साधुओ से कहने लगे—चलो भाई, अपने उपकरण वापस समेट लो। यहाँ मन्दिर मे तो भगवान् नहीं, क्रोध चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता मे ठहरकर क्या करेंगे ?

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्डी पड़ गई। कहने लगी—आप क्यो जा रहे हैं ? मैं आपको थोडे ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगो से कह रही हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम लोगो को ठहरा रही हो तो हमारे पास आने वाले लोगो को कैसे रोक सकती हो ?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ-विश्वास देखा तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्त-परक आलोचना

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने बाद ही आचार्यश्री ब्यावर मे पधारे थे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान मे उन्होंने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा था कि अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती

हैं, उसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाये जाते हो तो फिर उनमे नाम के अतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है ?

आचार्यश्री की इस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढे। मध्याह्न मे एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रात कालीन व्याख्यान मे कही गई उपर्युक्त बात को अपने पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दवाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापस लें और आगे के लिए ऐसी आक्षेपपूर्ण बात न कहे।

आचार्यश्री ने कहा—हम किसी की व्यक्ति-परक आलोचना नहीं करते। सिद्धान्त-परक आलोचना अवश्य करते हैं। ऐसा होना भी चाहिए; अन्यथा तत्त्ववोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाए। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नही कहा जा सकता, क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिए नही कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते हैं तो स्वय हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा जितना कि दूसरो पर होता है। अपने कथन को वापस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो बात ही कैसे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है, अत इस पर सूक्ष्मतापूर्वक मीमासा करते रहना नितान्त आवश्यक है।

वे लोग आचार्यश्री को लघुवय तथा नवीन समझ कर दवाने की दृष्टि से आये थे, परन्तु आचार्यश्री के दृढतामूलक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीनवृत्ति की द्योतक होती है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि की हेतु होती है। उन्हे रोकने की नही, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नही, अनाग्रही ही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नहीं

मेवाड़ के एक गाँव मे आचार्यश्री पधारे। वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—उसका पति दिवगत हो गया है। यहाँ की प्रथा

के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर मे बाहर नहीं निकल सकती।

आचार्यश्री ने कहा—तुम्ही कहते हो या उससे पूछा भी है ? ऐसा कौन होगा जो इतने महीनो तक एक ही मकान मे बैठा रहना चाहे ? इस पर वह भाई उस बहिन को समझाकर यही स्थान पर ले आने के लिए गया ? पर रूढियो मे पली हुई वह वहाँ न आ सकी। आचार्यश्री ने तब कहा—कोई रोगी या अशक्त होता तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता, पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना, अतः मैं नहीं जा सकता।

उस बहिन ने जब यह बात सुनी तो बहुत चिन्तित हुई। लोग हजारो मील जाकर दर्शन करते हैं और वह गाँव मे पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनो से भी वचित रह जायेगी, इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्तत वह अपने को नहीं रोक सकी। कुछ बहिनों की ओट लिये भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन कर जाने लगी। आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए इस प्रथा को छोड देने का बहुत उपदेश दिया, पर वह सामाजिक भय के कारण उसे नही मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा—एक ही कोठरी मे बैठे रहना और वही मल-मूत्र करना तथा दूसरो से फेंकवाना क्या तुम्हे बुरा नही लगता।

उसने कहा—बेटे की वह विनीत है, अत वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है।

आचार्यश्री सन्तो की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?

श्मशान मे भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियो को भेजा। वहाँ उन्हे घोर विरोध का सामना करना पडा। चूडा आदि मे कुछ लोग तेरापथी बने, उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। तेरापथी साधुओ के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना दिया कि उन्हे सौराष्ट्र मे चातुर्मास करने के लिए कहीं

स्थान नही मिला। ऐसी स्थिति मे यह एक चिन्ता का विषय था कि चातुर्मास कहाँ किया जाये ? सौराष्ट्र से अन्यत्र जाकर कही चातुर्मास कर सकें, इतने दिन नही थे। अन्त मे वहाँ से कुछ भाई थली मे आचार्यश्री के दर्शन करने आये और वहाँ की सारी स्थिति बतलायी।

आचार्यश्री ने क्षण-भर के लिए कुछ सोचा और कहा—यद्यपि वहाँ आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ है, फिर भी उन्हे साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नही है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे; उन्हे वही रह जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति मे श्मशान मे रह जाना चाहिए। भिक्षु स्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढतापूर्वक उन्हे कठिनाइयों का सामना करना है।

आचार्यश्री की इस दृढतापूर्ण स्फूर्त वाणी से श्रावको को बडा सम्बल मिला। तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होने अपने मन-ही-मन एक निर्णय किया और ऊनोदरी करने लगे। पार्श्वस्थित सभी व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे हैं, पर क्यो कर रहे हैं; इसका पता किसी को नही लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नही खोला। आखिर यह रहस्य तब खुला, जब सौराष्ट्र से साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गये। संघ के साधु-साध्वियों के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एकात्मकता का भान कराती है तथा संघ के लिए सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्मकता के सम्मुख कोई परीषह; परीषह के रूप मे टिक नही पाता। वह कर्तव्य की वेदी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है।

प्रत्युत्पन्नमति

आचार्यश्री मे अपनी बात को समझाने की अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार की तर्क से घबराते नही। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावलि से वे एक ही क्षण मे पासा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहां चकित हो जाते हैं; वहां तर्क करने वाले निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्नबुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—ईसा ने शत्रु से भी प्यार करने का उपदेश दिया है। ऐसा उदार सिद्धान्त अन्यत्र नही मिलेगा।

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है; परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता ही है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है। पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ मे गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी आचार्यश्री के पास आये। वे कुछ बातचीत कर ही रहे थे कि इतने में कुछ वणिक्-जन भी आ गए। उस अधिकारी ने आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी वणिक् ने अवसर देखकर आचार्यश्री के कान में कहा—यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ? आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उन अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसग मे उससे पूछ भी लिया—क्या आप शराब पीते हैं ?

अधिकारी—हाँ महाराज ! पहले तो बहुत पीता था, पर अब प्रायः नही पीता।

आचार्यश्री—तो क्या अब इसे पूर्णतः छोडने का संकल्प कर

सकोगे ?

अधिकारी—इतना तो विचार नही किया ; पर अब पीना नही चाहता ।

आचार्यश्री—जब पीना नही चाहते तो मानसिक दृढता के लिए सकल्प कर लेना चाहिए ।

अधिकारी ने एक क्षरण के लिए कुछ सोचा और फिर खडा होकर कहने लगा—अच्छा महाराज ! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नही पीऊँगा ।

आचार्यश्री ने उसके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—मेरे कहने के कारण तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो आप ऐसा नहीं कर रहे हैं ?

अधिकारी ने दृढता के साथ कहा—नही महाराज ! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही व्रत ले रहा हूँ । इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था , पर आज तक सकल्प-बल जागृत नही हुआ था । आज आपके सम्पर्क मे आने से मेरे मे वह बल जागृत हुआ है । उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है ।

आचार्यश्री ने उसके बाद उन समागत व्यापारियों से पूछा—अब आप लोग क्या छोडेंगे ? व्यापार मे मिलावट आदि तो नही करते ?

व्यापारियो ने बगलें झाँकना शुरू कर दिया । किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—आजकल इसके बिना व्यापार चल ही नहीं सकता ।

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोडने के लिए तैयार नही हो सके ।

आचार्यश्री ने कहा—जिसको तुम लोग बात करने योग्य नहीं बतलाते थे ; उसने तो अपनी बुराई को छोड दिया , पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो; अपनी बुराई नही छोड पा रहे हो । तुम लोगों से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही ।

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ मे प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—'जो अनुभव स्वय पढते समय नही हो पाता, वह विद्यार्थियो को पढाते समय होता है, अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।' आचार्यश्री भाषण देकर आये, तव एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—अव आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?

आचार्यश्री—चार वजे के लगभग प्रोफेसरो की सभा मे भाषण है।

छात्र ने हँसते हुए कहा—तव तो हम भी उसमे सम्मिलित हो सकेंगे ? क्योकि अभी आपने हमे प्रोफेसर वना दिया है।

आचार्यश्री—पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरो की न होकर छात्रो की ही तो होगी। तव तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नवीगज जा रहे थे। मार्ग मे रघुवीरसिहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का वहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्यक्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत वहाँ ठहर पाना सम्भव नही था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम मे लेते हुए कहा—यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं; अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है; वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएँ न हो, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।

त्यागीजी के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री ने अपने पूर्व निर्धारित कार्यक्रम की अनिवार्यता वतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शान्त किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रात कालीन प्रवचन मे कुछ साधु झपकियाँ ले रहे थे। आचार्यश्री ने उनकी ओर देखा और अपने चालू प्रकरण में कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उनकी साधना का ही एक अग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते हैं, यह देखने या सुनने से उतना नहीं जाना जा सकता, जितना कि स्वय अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को खुले आकाश मे सो नही सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति मे नीद कम आये; यह सहज है। आप समझ रहे होंगे; झपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नहीं हैं, किन्तु वास्तविकता यह नही है, प्रवचन सुनने के लिए आने पर भी रात की नीद प्रात.काल के ठण्डे समय मे सताने लगती है। इन झपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

आचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा चमत्कार का काम किया कि सब की नीद उड गई। कुछ व्यक्तियो ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसग मे ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की नई कला है। नीद लेने वालो ने अपनी स्थिति को सम्भालते हुए सोचा कि अब नीद नही लेनी है।

यह तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे; फिर भी फतहगढ़ से साढे तीन बजे विहार हुआ। सूर्य जल रहा था। धूप बहुत तेज थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो वृक्षो की छाया आती रही, किन्तु बाद में वह भी नही रही। एक साधु ने कहा—धूप इतनी तेज है और वृक्ष कहीं दिखायी नही पड रहे हैं। बडी मुसीबत है।

आचार्यश्री ने इस निराशावादी स्थिति को उलटते हुए कहा—आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है। यदि यह सम्मुख होता तो कार्य और भी कठिन होता।

विचार-प्रेरणा

आचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है; उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते है कि जिससे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल और सुबोध भाषा में बोलते हैं, फिर भी उस सुबोधता में एक ऐसा तत्त्व रहता है, जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरो के लिए मार्ग-दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार 'दिल्ली अणुव्रत समिति' के अध्यक्ष श्रीगोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत-अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए गये; तब किसी कारणवश काफी निराश थे, किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये; तब आशा से भरे हुए थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—अभी दिल्ली नगर-निगम के चुनावो मे मेरे अपने ही मुहल्ले मे वोट खरीदे गए थे। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही मुझसे छिपाकर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओ से मुझे बडी ग्लानि है। अत. निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति मे मैं अधि-वेशन मे भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश मे इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है, तब कुछ व्यक्तियो के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नही हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बडा दु ख है कि मेरी पार्टी वालो पर भी मेरा कोई प्रभाव नही है। अधिक व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नही चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियो से अलग-थलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत-जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनको इन बातो मे सहयोग नही दूंगा, तो वे उन बातो के विषय मे मुझ से विमर्षण किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।

आचार्यश्री ने मुझ से कहा—क्या यह कम महत्त्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नही कर सकते । उन्हे छिपकर काम करना पडता है । बस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया ।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये । आचार्यश्री ने उनसे पूछा—धर्म-शास्त्रो का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा ?

उन्होंने कहा—मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्रो का अभ्यास किया है ।

आचार्यश्री—तब तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा मुख आदि ग्रन्थ पढे ही होगे ?

सुरेन्द्रनाथजी—हाँ, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।

आचार्यश्री—आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नही ?

सुरेन्द्रनाथजी—जितना निर्विकल्प होना चाहिए, उतना नहीं हुआ ।

आचार्यश्री—हो भी कैसे सकता है ? पुस्तकें आत्मतत्त्व का विश्वास थोड़े ही कराती हैं ? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं ।

सुरेन्द्रनाथजी—तो विश्वास कैसे होता है ?

आचार्यश्री—साधना से । भले ही कोई ग्रन्थ न पढें, पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा । केवलज्ञान की प्राप्ति पुस्तको से नही; किन्तु साधना से ही होती है । केवल-ज्ञान के लिए कहीं कालेज मे भर्ती नही होना पड़ता; उसके लिए तो एकान्त मे बैठकर अपनी आत्मा को पढना होता है । उसी से अलभ्य आत्म-बोधि की प्राप्ति हो जाती है ।

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातो का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर जो प्रभाव पडा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—"इतनी बडी बात और इतने सरल ढग से । मेरा ज्ञानी होने का मद क्षण-भर में उतर गया । तभी मुझे लगा कि हजार शास्त्रघोटू पडितो से एक साधक सहस्रो गुना

अधिक ज्ञानवान् है[1] ।"

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश मे किसी ने आचार्यश्री मे पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आचार्यश्री ने कहा—मेरे चोटी नही है, अत मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं इस्लाम परम्परा मे नही जन्मा; अत. मुसलमान भी नही हूँ। मैं तो केवल मानव हूँ ।

भोजन का अधिकार

'गोड़ता' गाँव मे आचार्यश्री के पास मृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पड़ा। अनेक व्यक्तियों ने मृत्यु-भोज करने तथा उसमे सम्मिलित होने का परित्याग किया। आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच मे भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपंच ने कहा—मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। चार हजार रुपये लगाकर मैंने सब लोगो को भोजन कराया है तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-भोज कैसे छोड दूं ? कम-से-कम एक-एक बार तो सबके घर भोजन करने का मुझे अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नही करूँगा ।

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड देते हुए कहा—परन्तु जब तुम मृत्यु-भोज नही करोगे तो तुम्हे फिर क्यो कोई अपने यहाँ बुलायेगा ? सब सोचेंगे—यह हमे नहीं बुलायेगा, तब फिर हम ही इसे क्यो बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जब सब लोग इसका परित्याग करते हैं, तब तुम्हें भोजन करने के लिए बुलायेगा ही कौन ?

सरपच के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री की तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यों पर पुनः विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालों के साथ खड़ा होकर प्रतिज्ञा मे सम्मिलित हो गया।

---

1. जैन भारती, १६ दिसम्बर, '५४

हमारा अनुभव भिन्न है

एक सन्यासी को आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय दिया। उसने पूछा—क्या लोग आपकी बातें मान लेते हैं ? हमने तो देखा है कि प्राय: लोग व्रत के नाम से ही भागते हैं।

आचार्यश्री ने कहा—हमारा अनुभव आप से भिन्न है। व्रतों का उद्देश्य और उनकी भावना को ठीक ढग से समझाने पर अधिकांश लोग व्रतो के प्रति निष्ठाशील होते पाये गए हैं। भागते तो वे तब हैं; जब कि स्वय प्रेरक उन व्रतो को अपने जीवन मे न उतार कर केवल उपदेश बघारने लगता है।

शंकर-प्रिया

श्री बी० डी० नागर को आचार्यश्री ने अणुव्रतो की प्रेरणा दी; तो वे बोले—मैं शकर का उपासक हूँ। शकर को भाँग बहुत प्रिय थी, अत. मैं उन्हें भाँग चढाता हूँ। जो वस्तु अपने इष्टदेव को चढाता हूँ; उसे प्रसाद के रूप मे स्वय भी स्वीकार करता हूँ। अणुव्रती बनने से उसमें बाधा आती है।

आचार्यश्री—आप तो एक बौद्धिक व्यक्ति हैं। थोड़ा सोचिये; क्या बिना भग के शकर की पूजा नही हो सकती ?

श्रीनागर—हो तो सकती है; किन्तु अन्य वस्तुएँ उनकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का स्थान तो नहीं ले सकती।

आचार्यश्री—ईश्वर को भक्त अपना ही रूप देना चाहता है। वह स्वयं जिन वस्तुओ को प्रिय मानता है; उन्ही पर भगवान् की प्रियता का आरोपण कर लेता है। गाँजा आदि पीने वाले भी शकर के नाम की आड़ लेते हैं। इस क्रम से तो भगवान् के निर्मल स्वरूप मे बाधा ही पहुँचती है। आप इस विषय पर गम्भीरता से सोचियेगा।

श्रीनागर—हाँ, यह बात सोचने की अवश्य है। नशे के रूप में भाँग छोड़ देने मे मुझे कोई आपत्ति नही है। अन्य बातों पर जब तक पूर्ण मनन न कर लूं तब तक के लिए इतना सकल्प भी काम देगा।

गंगाजल से भी पवित्र

अकराबाद मे एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने की हठ करने लगा। आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग मे नही आता।

पडितजी बोले—यह तो गंगाजल है। यह कभी कच्चा होता ही नहीं। मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ।

अन्तत: आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का रुख बदलते हुए कहने लगे—पडितजी! श्रद्धा पानी से बड़ी होती है, मैं आपकी श्रद्धा को सादर ग्रहण करता हूँ। वह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है।

सबसे समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसाद सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलित वर्ग संघ के वार्षिक अधिवेशन मे जाना स्वीकार कर लिया। उनके कुछ विरोधियो ने आचार्यश्री से कहा—सब दलित वर्गीय लोगो का इसमे सहयोग नही है। अतः आपका वहाँ जाना उचित नही लगता।

आचार्यश्री ने कहा—सबका सहयोग होना अच्छा है; फिर भी वह न हो; तब तक के लिए मैं अपनी बात न कहूँ, यह उचित नही। सत्या-न्वेषण या सत्यप्रापण मे यदि सबके सहयोग की शर्त रहे; तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये। जो इस संगठन में हैं; वे मेरे विचार आज सुन लें और जो इस संगठन में नहीं हैं; वे आज वहाँ भी सुन सकते हैं तथा अन्यत्र कहीं भी। मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई सम्बन्ध नही है और जो सम्बन्ध है वह सभी संगठनों से एक समान है।

चरण-स्पर्श कर सकते हैं?

रेल से उतर कर आये हुए कुछ व्यक्तियो ने आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के धुंए से मलिन हुए अपने वस्त्रों

के कारण कुछ सकोच हुआ। यह विचार भी शायद मन मे उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क मे आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिए। दूसरे ही क्षण मन ने एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने मे तन और वसन से कही अधिक श्रद्धा माध्यम वनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और वोले—क्या हम इस अस्नात स्थिति मे आपका चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

आचार्यश्री ने कहा—क्यो नही ? वस्त्रो की मलिनता उपेक्षणीय न होते हुए भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नही होनी चाहिए।

विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा मे वोलते सुने जा सकते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप मे नही होता, अपितु अपने मे एक गहरा अर्थ लिये हुए होता है। उनके विनोदो का व्यग्यार्थ वाण की तरह वस्तुस्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घड़ी

लाडणूं मे युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वयसेवक ने सूचना देते हुए कहा—एक घडी मिली है, जिन सज्जन की हो वे चिन्ह वताकर कार्यालय से ले लें।

वह वैठ भी नही पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी आप लोगो मे एक घडी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं !

हंसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल मे काफी देर तक एक मधुर सगीत की सी झंकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। यात्री निकट की एक वाटिका मे ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियो का

छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुंआ संयोगवशात् वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भाई-बहनों को काट लिया। उस काण्ड मे पर्दे वाली बहनें साफ बच गई।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उनकी एक उपयोगिता तो अब निर्विवाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार मे मील पर मील कटते जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौरासी मील शेष था। एक भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है।

आचार्यश्री ने उस बात मे अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सारा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुआँ प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियो मे जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाता है, पर कुंआ प्यासे के पास क्यो जाये?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई, क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुंआ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातो के साथ उसने यह भी बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस, यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी?

—

अँधेरे से प्रकाश में

रात्रि के समय खुली छत पर दुग्ध-धवल चन्द्रिका मे अणुव्रत-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रारम्भ होने वाला था। वहाँ पास मे एक पाल बँधा हुआ था। लगभग आधी छत पर उसकी छाया पड़ रही थी। कुछ अणुव्रती चन्द्र के प्रकाश मे बैठे थे; तो कुछ उस छाया में। प्रकाश वाला कुछ भाग यो ही खाली पडा था। कुछ व्यक्तियो ने पीछे छाया में बैठे भाइयो से आगे आजाने का अनुरोध किया, पर वहाँ से कोई उठा नहीं।

आचार्यश्री ने इसी स्थिति को विनोद की भाषा मे यो अभिव्यक्ति दी—"प्रकाश मे आने के बाद हर बात मे जितनी सावधानी बरतनी पड़ती है; अँधेरे मे उतनी नहीं। सम्भवत: यही सुविधा अँधेरे के प्रति आकर्षण का कारण हो सकती है, अन्यथा प्रकाश को छोड़ अँधेरे को कौन पसन्द करेगा?" वातावरण में चारों ओर स्मित-भाव छलक उठा। पीछे बैठे हुए भाई किसी के अनुरोध के बिना स्वय ही उठ-उठ कर आगे आ गये।

जो आज्ञा

प्रवचन चल रहा था। एक छोटा बालक घूमता-फिरता उधर आया और आचार्यश्री के पैरो की तरफ हाथ बढाते हुए बोला—'पैर दो!' आचार्यश्री अपने प्रवाह मे बोल रहे थे। जनता विमुग्धभाव से सुन रही थी। बालक को इसकी कोई परवाह नही थी। आचार्यश्री का प्रवाह रुका। लोगो की दृष्टि बालक की ओर गयी। आचार्यश्री ने अपने पैर को उसकी ओर आगे बढाते हुए हँसकर कहा—'जो आज्ञा!' बालक अपनी मस्ती से चरण-स्पर्श कर चलता बना।

अच्छाई-बुराई की समझ

अलीगढ के एक वृद्ध एडवोकेट निधीशजी आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। बातचीत के प्रसग मे उन्होने कहा—मैं यदि बुराई भी करता हूँ तो उसे अच्छी समझ कर ही करता हूँ।

आचार्यश्री ने छूटते ही कहा—और जब अच्छाई करते हैं तो शायद

बुरी समझ कर करते होंगे ?

प्रामाणिकता

आचार्यश्री अपने कार्य मे परिपूर्ण प्रामाणिकता का ध्यान रखते हैं। अपनी तथा अपने साधुओं की कार्य-वृत्ति से किसी को दुविधा न हो, तथा किसी की वस्तु का दुरुपयोग न हो; इसमे भी वे पूर्णतः जागरूक रहते हैं।

किसी पूर्वाग्रह तथा न्यूनता लगने के भय से भी वे अपनी प्रामाणिकता को आंच आने देना नहीं चाहते।

हीनता की बात

एक विद्वान् ने आचार्यश्री से कहा—आचार्यजी, भविष्य में इतिहास का विद्यार्थी जब यह पढेगा कि भारत मे छोटी-छोटी बुराइयों को मिटाने के लिए व्रत बनाने पडे और आन्दोलन चलाना पड़ा, तो क्या यह बात भारत की हीनता प्रकट करने वाली नहीं होगी ?

आचार्यश्री—हो सकती है, किन्तु वस्तुस्थिति को छिपाना भी तो अच्छा नहीं है। भारत शताब्दियों तक परतन्त्र रहा, यह घटना भी तो हीनता की द्योतक है, पर क्या इस वस्तुस्थिति को बदला जा सकता है ? इतिहास में उत्कर्ष और अपकर्ष आते ही रहते हैं; उनके कारण से हमें वस्तु-स्थिति छिपाने का प्रयास कर, अप्रामाणिक नहीं बनना चाहिए।

श्रद्धा का सदुपयोग करें !

आचार्यश्री आहार कर रहे थे। उसी कमरे में एक पेटी पर पानी से भरा पात्र रखा था। आचार्यश्री ने देखा तो पूछने लगे—यहाँ पानी किसने रखा है ? यदि थोड़ा-सा भी पानी नीचे गिरा तो वह पेटी के अन्दर चला जायेगा। इसके अन्दर कपड़े भी हो सकते हैं तथा आवश्यक कागज-पत्र भी। हमारी असावधानी से वे खराब हो; यह लज्जा की बात है। लोग हमें जिस श्रद्धा से स्थान देते हैं; हमें उनकी वस्तुओं का उतनी ही प्रामाणिकता से ध्यान रखना चाहिए। उन्होंने उस पानी का

तत्काल उठा लेने का निर्देश किया।

पांच मिनट पहले

उत्तरप्रदेश की यात्रा के पहले दिन मे सायं आचार्यश्री 'अछनेरा' पधारे। इण्टर कालेज मे ठहरना हुआ। परीक्षाए चल रही थी; अत. प्रिन्सिपल ने प्रार्थना की—रात को तो आप आनन्द से यहाँ ठहरिये; परन्तु प्रातः यदि सूर्योदय से पाँच मिनट पहले ही खाली कर सकें तो ठीक रहेगा, अन्यथा परीक्षार्थी लड़को के लिए थोड़ी दिक्कत रहेगी।

आचार्यश्री ने उस वात को स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रात. वैसा ही किया। सूर्योदय से पाँच मिनिट पूर्व ही सव सन्त सड़क पर आ गए और सूर्योदय होने पर वहाँ से विहार कर दिया। इस प्रामाणिकता पर कालेज के अधिकारी गद्‌गद हो गये।

वक्तृत्व

आचार्यश्री की अन्य अनेक प्रवल शक्तियो मे से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति। किस व्यक्ति को कौन-सी वात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे वहुत अच्छी तरह से जानते हैं। विद्वानों की सभा मे जहाँ वे अपनी प्रखर विद्वत्ता की छाप छोडते हैं, वहाँ ग्रामीणो पर उनके उपयुक्त सहज और सुवोध वातो की। आपके उपदेशो से सहस्रो जन मद्य, माँस, भाँग, तम्वाकू तथा अपमिश्रण आदि अनैतिकताओ से विमुक्त हुए हैं। अनेक वार ग्रामो मे ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं, जव कि वर्षों तक मद्य तथा तम्वाकू पीने वाले व्यक्ति आचार्यश्री के सामने अपनी चिलमे फोड़ देते हैं तथा अपने पास की बीडियो का चूरा करके फेंक देते है।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जव २१ अक्तूवर ४६ मे आचार्यश्री से मिले थे, तव उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होने अपने एक पत्र में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश मे ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते हैं। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं; वे तो ग्रन्थो का सहारा ले सकते हैं, पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ तत्त्वो का प्रचार करते हैं, उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"[1]

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातो पर ही प्रभावशाली ढग से बोलते हो, सो बात नही। वे जिस विषय पर भी बोलते हैं, उसी मे इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयो से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते है। स० २००८ मे दिल्ली मे भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमे सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय मे जो भाषण दिया उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होने एक पत्र भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है

महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम। इधर तीन दिनो से आपके दर्शन और सत्सग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बडा खेद है कि आज कुछ मित्रो के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगो को अधिक देना चाहिए, जिससे हमे अपने जीवन को माँजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी का चरित्र और आपका आज का तद् विषयक

१. विशेष विवरण

व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप मे बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युग-पुरुष' हैं। जैन धर्म को मैं मानवधर्म मानता हूँ। उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन कार्य मे मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति

विनीत

हरिभाऊ उपाध्याय[1]

विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-बाने से बना है। उसकी महत्ता घटनाओ मे बिखरी पडी है। घटनाएँ भी इतनी कि समेटे नहीं सिमटती। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के संकलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था में छोटा हूँ

मध्याह्न में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की तो उसने बतलाया—मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गाँव मे एक बडे महात्मा आये हैं। मैंने सोचा—चलूं, कुछ सेवा-बन्दगी कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री के पैरों की ओर हाथ बढाते हुए कहा—लाइये, थोडा-सा चरण दबा दूं।

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को और अधिक समेटते हुए कहा—नही भाई ! हम किसी की शारीरिक सेवा नही लेते।

किसान ने कहा—आप क्यो नही दबवाते ? मैंने तो अनेक सन्तो के पैर दबाये हैं।

आचार्यश्री ने कहा—यह हमारा नियम है ? दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ ? मेरे पैर दुखते भी नही। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यो ?

---

१ विशेष विवरण

मध्यम मार्ग

विहार मे एक ग्राम के लोगो ने जव यह सुना कि आज प्रात आचार्यश्री तुलसी पार्श्ववर्ती जी० टी० रोड़ से होकर गुजरेंगे, तो वे लोग काफी पहले से ही दूध के लोटे भर-भर कर वहाँ ले आये। काफी देर वाट देखने पर जव आचार्यश्री वहाँ पहुँचे तो उन्होंने अपनी भेंट आचार्यश्री के सामने रखी। आचार्यश्री सामने लायी गई वस्तु न लेने के नियम से वँधे थे और वे लोग अपनी श्रद्धा की कृतार्थता चाहते थे। अनेक वार समझाने पर भी जव वे नही माने तो साथ मे चलने वाले भाई दौलतरामजी ने एक बीच का मार्ग निकाल डाला। उन्होंने उन सव से कहा कि जव महात्माजी का यह नियम है तो तुम उनके साथ चलने वाले भक्तों को ही यह दूध क्यों नहीं पिला देते? इतना दूध अकेला तो कोई पी नही सकता, सारी जमात को पिलाने के लिए ही तो लाये हो?

यह वात उनके दिमाग मे वैठ गई और वड़ा आग्रह कर करके उन्होंने लोगो को दूध पिलाया। उस मध्यम मार्ग ने आचार्यश्री का कुछ समय वचा दिया, नही तो उन्हें समझाने मे काफी समय लगाना पड़ता।

भेंट क्या चढ़ाओगे?

आचार्यश्री एक छोटे-से गाँव मे ठहरे। ग्रामीण उनको चारों ओर से घेर कर खड़े हो गए। आचार्यश्री ने विनोद में उनसे कहा खडे तो हो, भेंट मे क्या-क्या चढाओगे?

वेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—महाराज! भेंट के लिए तो हम कुछ नहीं लाये।

आचार्यश्री—तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन करने के वाद कुछ चढाना भी आवश्यक होता है?

किसानों ने वडे सकोच के साथ कहा—हम तो सव गरीव हैं, आपके योग्य भेंट ला भी क्या सकते हैं?

आचार्यश्री ने उन्हें और भी विस्मय मे डालते हुए कहा—तुम सब

के पास चढाने के उपयुक्त सामग्री है तो सही, परन्तु उसे चढाने का साहस करना होगा।

वे लोग विस्मित हो एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताडते हुए कहा—डरो मत, मैं तुम्हारे से रुपया-पैसा माँगने वाला नही हूँ। मुझे तो तुम्हारी बुराइयो की भेंट चाहिए। तम्बाकू, मद्यपान, चोरी आदि की, जिसमे जो बुराई हो, वह मुझे भेंट चढा दो।

यह सुनकर सब मे प्रसन्नता की लहर दौड गई। उन लोगो ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणो मे काफी सारी भेंट चढाई।

फीस भी लेता हूँ और पद भी देता हूँ

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—ऐसे तो मेरी सन्तो मे कोई विशेष श्रद्धा नही रहती; किन्तु इस वार कुछ ऐसी भावना जागी कि प्रतिदिन तीनो समय आता रहा हूँ। मुझे आपके सघ की दो वातो ने विशेप आकृष्ट किया है। एक तो सदस्यता की कोई फीस नही है, दूसरे पदो का झगडा नही है।

आचार्यश्री ने उनकी आशा के विपरीत कहा—तुमने सम्भवत गहराई से ध्यान नही दिया। यहाँ तो फीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।

वह भाई कुछ असमजस मे पडा और पूछने लगा—कहाँ ? मेरे देखने मे तो कोई ऐसी वात नही आई !

आचार्यश्री—अव तक नही आई होगी, पर लो अव लाये देता हूँ कि हम अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति से सयम की फीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते हैं। क्यो है न स्वीकार ?

और तव उस भाई को न फीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया।

आपका चरणामृत मिले तो…

एक व्यक्ति अपने भानजे को लेकर आया। वह अपने साथ गर्म जल

का पात्र तथा चाँदी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वन्दन कर वह बोला—महाराज ! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अंगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है, परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नही। मैंने सोचा—इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूं तो यह अवश्य ही पूर्ण स्वस्थ हो जाएगा।

आचार्यश्री ने कहा—मैं अपना अंगुष्ठ नही धुलवाऊँगा। अंगुष्ठ धोये पानी से रोग मे कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नही। मैं इसे एक अन्धविश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं, उसमे मुझे कोई आपत्ति नही। उससे अधिक कुछ नही।

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श करवाया और बडी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा मे आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बँधी हुई कपडो की गठरी मार्ग मे गिर गई। उसमे लगभग पाँच सौ रुपये का कपडा था। पीछे से एक ताँगे वाले ने उसे गिरते देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वह वहाँ पहुँचा, जहाँ कि आचार्यश्री की सेवा मे आये हुए अनेक परिवार ठहरे हुए थे। उसने वहाँ लोगो को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के बाद पता चलते ही गठरी यथा-स्थान पहुँचा दी गई।

कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने सारी घटना सुनकर परिचय के रूप मे उससे उसका नाम पूछा—उसने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उसका उत्साह बढाते हुए कहा—छोटे ने बडा काम किया है। जनता की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने कहा—इस घटना से पता चलता है कि भारतीय मानस की पवित्रता मरी नही है'

हमनै के बेरा

आचार्यश्री उन दिनो हरियाणा मे विहार कर रहे थे। एक गाँव के लोगो ने कई दिन पहले से सुन रखा था कि एक बडे महात्मा आने वाले हैं। उन लोगो ने अपनी कल्पना के अनुसार समझा कि कोई बडे महन्त आदि की तरह ही ये भी होगे। लोगो मे उन्हें देखने की बडी उत्कण्ठा थी। वहाँ के अधिकाश व्यक्ति दूर तक सामने आये तब उन सब के आश्चर्य का ठिकाना नही रहा, जब कि उन्होंने उनको नगे पाँव पैदल चलते हुए देखा।

आचार्यश्री गाँव मे आये और उसी समय अपने पहले व्याख्यान मे जनता को आचार-शुद्धि का सन्देश दिया। भाषा और बातें वहाँ की जनता के बिलकुल अनुरूप थी। वे लोग इतने प्रसन्न हुए कि जिसका कोई पार नही। व्याख्यान के समाप्त होते ही वे आचार्यश्री के पास घिर आये—और कहने लगे—"हम नै के बेरा तूं इसा सै" अर्थात्—हमें क्या पता था कि आप ऐसे हैं।

उपसंहार

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढकर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। जो केवल अपने मे ही समाकर रह जाता है, वह विद्वान् तो हो सकता है, पर महान् नही, महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय से घेरा नही जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि—महत्ता के मार्ग मे इयत्ताए आती हैं; परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है—यह परिमाण इयत्ताओ की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। ससार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है। इसीलिए हर इयत्ता के साथ उनका सदैव सघर्ष चालू रहा है।

आचार्यश्री ने इयत्ताओ के अनेक वलय तोडे हैं। वर्तमान इयत्ता से भी उनका सघर्ष चालू है। आज नही तो कल—यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ मे न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी सघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा, कहा नही जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नही है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा। यहाँ केवल आचार्यश्री के वर्तमान का दिग्-दर्शन कराया गया है। वर्तमान की जड भूतकाल की भूमि मे गहराई तक धँसी रहती है। कोरा वर्तमान टिक नही पाता, इसीलिए उससे सम्बन्धित भूतकाल की भूमिका पर ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान काल अवस्था की दृष्टि से ४७ और आचार्यत्व की दृष्टि से २४ वर्ष

प्रमाण भूतकाल को अवगाहित किये खड़ा है। उसी परिप्रक्ष्य में यहाँ उसका अंकन किया गया है।

लगभग ३० वर्ष के प्रत्यक्ष-सम्पर्क मे मैंने आचार्यश्री के जीवन मे जो विचित्रताएँ देखी है, उन्हे इस जीवन मे यथास्थान दिखाने का प्रयास किया है। यदि उन विशेषताओं को किसी एक ही शब्द मे अभिव्यक्ति देने के लिए मुझे कहा जाये तो मैं उसे 'जीवन का स्याद्वाद' कहना चाहूँगा। आचार्यश्री के इस स्याद्वादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई कर सकता है। जैन-दर्शन का प्राण स्याद्वाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्मो मे भी अविरोध पा लेता है, उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति मे से समन्वय के सूत्र को पकड़ने के अभ्यासी रहे हैं। उनकी इस प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियो को अतिशयता से प्रभावित किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी के निम्नोक्त उद्गार इसी बात के साक्षी हैं। वे कहते हैं—"... ...मैंने बहुत नजदीक मे अध्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री मे बहुत से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी से विरोधी वातावरण मे भी क्षुब्ध नही होते और न विरोध का प्रतिकार विरोध से ही करते हैं। वे अपनी आत्म-श्रद्धा से विरोध-शमन का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं।"[1]

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण मे कुछ ऐसी सहज व्यावहारिकता आ गई है कि उससे प्रभावित हुए विना रह सकना कठिन है। कोई अध्यात्म मे विश्वास करे या न करे, परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार मे उतारने की प्रेरणा देते हैं, उससे कोई इन्कार नही कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा। वे कहते हैं—"मैं साधु सतो और अध्यात्म से दूर रहता हूँ। इसमे भी एक कारण है—मैंने देखा है वे समाज से दूर हैं। जो हम से दूर हैं, हम भी

---

१ नवभारत टाइम्स ३१ अक्टूबर १९५४

उनसे दूर हैं। आचार्यश्री जैसे जो सत महात्मा समाज के नजदीक हैं, मैं उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम ससारी हैं, ससार मे रहते हैं, ससार से हमे काम है। साधना चमत्कार के लिए नही, कार्यों के लिए है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ और आचार्यश्री के निकट आया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-आन्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि मे व्यक्ति को परोक्षवादी नही, प्रत्यक्षवादी वनाता है। वह स्वार्थमुखी नही, व्यक्ति को समाज मुखी वनाता है[1]।"

वे जीवन को जड देखना नही चाहते। जीवन मे परिष्कार और सस्कार को वे नितान्त आवश्यक मानते हैं। उनकी यही भावना कार्यरूप मे परिणत होकर सस्कृति का उन्नयन करने वाली वन गई। भारतीय सस्कृति के अन्यान्य प्रहरियो के समान आचार्यश्री भी उसको पल्लवित, पुष्पित व फलित करने मे दत्तावधान रहे हैं। उनकी इसी कार्य पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-पुस्तक 'क्वासि' की भूमिका मे आचार्यश्री को सस्कृति का उन्नयनकर्ता या परिष्कर्ता ही नही, अपितु अभेदोपचार से स्वय सस्कृति ही कहा है। वे लिखते हैं—"तव सस्कृति क्या है ? मेरी मति के अनुसार सस्कृति गाँधी है, सस्कृति विनोवा है, सस्कृति कवीर, तुलसी, सूर, ज्ञान-देव, समर्थ तुकाराम है, सस्कृति अणुव्रत प्रचारक जैन मुनि आचार्य तुलसी हैं। सस्कृति रमण महर्षि हैं। आप हँसेंगे, पर हँसने की वात नही है। सस्कृति है आत्म-विजय, सस्कृति है राग वशीकरण, सस्कृति है भाव उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये, वही सत्साहित्य है[2]।"

इस प्रकार मैंने देखा है कि आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियो तथा विविध विचार-धाराओ को अपनी ओर आकृष्ट

---

१. जैन भारती ६-४१
२. 'क्वासि' की भूमिका पृष्ठ २४

किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओं में भी समानता के आधार बने हैं। उन्होंने जन-जन को विश्वास दिया है, अत: वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने हैं। वस्तुत: जो जितने व्यक्तियों को विश्वास दे सकता है, वह उतने ही व्यक्तियों का विश्वास पा भी लेता है। उन्होंने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। यह जीवनी उसी विश्वास का एक सक्षिप्त परिचय है।

प्रथम परिशिष्ट

धवल-समारोह

सम्मान से अधिक मुल्यवान्

कोई भी महापुरुष जनहित का कार्य सम्मान या यश की प्राप्ति के लिए नही करता, फिर भी उसमे उन्हे वे अनायास ही प्राप्त होते रहते हैं। यद्यपि उनके कार्यो का महत्त्व उस प्राप्त सम्मान की कसौटी से नही परखा जा सकता। उनका मूल्य तो उन सबसे बहुत अधिक होता है फिर भी कभी-कभी किसी-किसी के लिए सम्मानो की गुरुता अथवा व्यापकता भी व्यक्ति की महत्ता को समझने मे सहायक होती पायी गई है।

अखंड आशा

आचार्य श्री ने जन-हितार्थ अपना जीवन समर्पित किया है। उसमें उन्हे न सम्मानो की अपेक्षा रही है और न अभिनन्दनो की। फिर भी उन्हे जन-साधारण से अपरिमेय सम्मान मिला है। वे जहाँ भी गये हैं प्राय सर्वत्र उनके कार्यो को अभिनन्दनीय प्रशसा प्राप्त हुई है। भारत के मनीषियो ने उन्हे बडी आशा भरी दृष्टि से देखा है। नव-नालदा महाविहार पाली इन्स्टीट्यूट के डायरेक्टर डा० सतकरि मुकर्जी द्वारा इन्स्टीट्यूट की ओर से आचार्य श्री के अभिनन्दन मे पठित पत्र के ये शब्द इस विषय में बडे ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं "न तो पूर्वतन महापुरुषो का भारत भूमि में अवतरण ही निष्फल हो सकता है और न यहाँ का अन्तिम परिणाम पतन'। इसमे प्रमाण है—आप जैसे

व्यक्तियो का भारत भूमि मे अवतरण ।"[1]

'रजत' बनाम 'धवल'

आचार्य श्री का कार्य क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमे उनका व्यक्तित्व सम्प्रदायातीत-रूप मे निखार पा चुका है। यद्यपि वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं फिर भी उनका आचार्य-काल सपूर्ण मानव जाति के हित मे खपता रहा है। जनता उनके चारो ओर घिरती रही है और वे उसके प्रेरणा-श्रोत बनते रहे हैं। इसी प्रक्रिया का फल था कि आचार्यश्री के आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने वाले थे तब सार्वजनिक रूप से उनकी रजत-जयन्ती मनाने का विचार लोको के मन मे उठा।

'रजत' शब्द भौतिक वैभव का द्योतक है इसलिए 'धवल' शब्द को उसका तथा आचार्यश्री के कार्यों का भाव-बोधक मानकर उसके स्थान पर स्वीकार किया गया। 'रजत जयन्ती' के स्थान पर 'धवल समारोह' शब्द का प्रयोग अधिक सात्त्विक तथा भाव-गाम्भीर्य युक्त है। इस दिशा मे एक नई परम्परा का प्रारम्भ तो यह है ही।

धवल-समारोह समिति

धवल-समारोह के विचारो को कार्य का रूप देने के लिए एक 'धवल-समारोह समिति' का गठन किया गया। उसके पदाधिकारी निम्नोक्त व्यक्ति थे

उ० न० ढेवर, भूतपूर्व अध्यक्ष, अ० भा० काग्रेस कमेटी	अध्यक्ष
डा० सपूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमत्री, उत्तरप्रदेश	उपाध्यक्ष
वाइ० वी० चह्वाण, मुख्यमत्री महाराष्ट्र	उपाध्यक्ष

१. नहि पूर्वतनानां महापुरुषाणां भारत भूमौ जननं निष्फलं भवितु मर्हति। न वा विनिपात एवं पार्यान्तिकः परिणामो भवेत्। तत्र च प्रमाणं भवादृशानां भारत वसुन्धरायां क्रियासमभिहारेणाविर्भावः।"

जैन भारती, २५ जनवरी १६५६

मोहनलाल सुखाडिया, मुख्यमन्त्री राजस्थान	उपाध्यक्ष
वी० डी० जत्ती, मुख्यमन्त्री मैसूर	उपाध्यक्ष
श्रीमन्नारायण, सदस्य योजना आयोग	संयोजक
जबरमल भंडारी, अध्यक्ष जैन श्वे० तेरापंथी महासभा	सह-संयोजक
सुगनचन्द आंचलिया, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० अणुव्रत समिति	सह-संयोजक
गिरधारीलाल जैन, अध्यक्ष, जैन श्वे० तेरापंथी सभा दिल्ली	कोषाध्यक्ष

तीन कार्य

धवल-समारोह योजना के कार्य-परिणति में मुख्यतः तीन कार्य संपाद्य थे—

(१) धवल समारोह,

(२) अभिनन्दन ग्रन्थ,

(३) आचार्य श्री की कृतियों का सम्यक् संपादन।

व्यक्ति पूजा या आदर्शपूजा

धवल-समारोह स्थूल रूप में यद्यपि आचार्य श्री के सम्मान में आयोजित था परन्तु अन्तरंग में वह उनकी लोकोपकारक प्रवृत्तियों का सम्मान था। पर्यायान्तर में वह अध्यात्म का था। इसी विचार ने आचार्यश्री को इस समारोह की स्वीकृति के लिए बाध्य कर दिया था। इस विषय में उनके अपने शब्द ये हैं—"अध्यात्म का अभिनन्दन अध्यात्म की गति का प्रेरक बन सकता है, इसी तर्क से बाध्य हो बहुत संकोच को चीरकर मुझे इस अभिनन्दन में उपस्थित होने व उसे स्वीकार करने की अनुमति देनी पड़ी।"[1]

कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन केवल औपचारिक है।

१ जैन भारती, १८ मार्च १९६२

मूलतः ऐसे समारोहों से आदर्श-पूजा के स्थान पर व्यक्ति-पूजा को ही प्रश्रय मिलता है। इसका सहज उत्तर यही हो सकता है कि आज तक के इतिहास मे कोई भी ऐसी आदर्श-पूजा उपलब्ध नही होती जिसमे व्यक्ति को माध्यम नही बनाया गया हो। प्रत्येक आदर्श किसी-न-किसी की तपोभूमि मे फलित होकर भी जनग्राह्य बना करता है। इसलिए आदर्श की ओर प्रेरित करने वाले किसी व्यक्ति को यदि हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तो वह उपयुक्त ही है।

नवभारत टाइम्स के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन इसी बात को यों कहते हैं—'सामान्यतः आज या युग व्यक्ति-पूजा का नही रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमे व्यक्ति को ही खोजना पड़ता है। अहिंसा, सत्य व सयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक हैं। वे अणुव्रतो की शिक्षा देते हैं और महाव्रतो पर स्वय चलते हैं।"[1]

सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण कहते हैं—"भारतवर्ष मे सदा ही त्याग और सयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्य श्री तुलसी स्वय अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोड़ना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र मे चलने वाले लोगों का अभिनन्दन समाज करती रही तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नही होंगे।"[2]

उपर्युक्त सभी उद्धरण मैंने इसलिए दिये हैं कि आचार्यश्री के अभिनन्दन को श्रद्धातिरेक से उनका शिष्य वर्ग ही नही, अपितु समाज के विचारक व्यक्ति भी आदर्श-पूजा का प्रतीक मानते हैं।

---

१ आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रबन्ध संपादक की ओर से

२. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पादकीय

दो चरण

आचार्य श्री के जनोत्थानकारी कार्यों को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का जब निश्चय किया गया तब यह विचार सामने आया कि समारोह को दो चरणों में मनाया जाना चाहिए। प्रथम चरण भाद्रपद शुक्ला नवमी को मनाया जाए जोकि आचार्य श्री के पदारोहण का मूल दिन है और दूसरा चरण शीतकाल में किसी निर्धारित दिन पर मनाया जाए। ताकि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विहार करने वाले अधिकांश मुनिजन भी उसमें सम्मिलित हो सकें। विचार-विमर्श के पश्चात् समारोह को दो चरणों में मनाने का निश्चय हुआ।

प्रथम चरण

धवल-समारोह का प्रथम चरण बीदासर में मनाया गया। उस अवसर पर सहस्रों की संख्या में जनता ने उपस्थित होकर आचार्य श्री का अभिनन्दन किया। उसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्युत् उपमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी, बीकानेर महाराजा श्री करणीसिंह, पंजाब के सिंचाई व विद्युत्-मन्त्री सरदार ज्ञानसिंह राड़ेवाला, उत्तरप्रदेश विधान सभा के स्पीकर रामनारायण त्रिवेदी, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री लक्ष्मीरमण आचार्य, सुप्रसिद्ध समाजसेवी डा० युद्धवीरसिंह, उपन्यास लेखक कामरेड यशपाल तथा कवि रामनाथ 'सुमन' आदि ने भी उनके अभिनन्दन में प्रमुख रूप से भाग लिया।

द्वितीय चरण

धवल-समारोह का मुख्य आयोजन द्वितीय चरण में ही रखा गया था। उस अवसर पर जो स्वागत समिति का गठन किया गया उसमें राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया स्वागताध्यक्ष थे। समारोह के लिए चोपड़ा हाईस्कूल के मैदान में पंडाल बनाया गया था। वह स्थान विशाल तो था ही मौके पर भी था। बीकानेर के सान्निध्य तथा दोनों

श्रोर सड़कों के कारण जनता के श्रावागमन के लिए भी काफी श्रनुकूल था। उपस्थित होने वाले विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए वहाँ स्वयसेवक दल का प्रबन्ध किया गया था।

भूतपूर्व कांग्रेस श्रध्यक्ष श्री उ० न० ढेवर की श्रध्यक्षता मे वह समारोह किया गया था। तत्कालीन उपराष्ट्रपति (वर्तमान राष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् श्रादि देश के श्रनेक गणमान्य नेता, साहित्यकार श्रौर पत्रकार उसमे सम्मिलित होने श्रौर श्राचार्यश्री को श्रद्धांजलि श्रर्पित करने को एकत्रित हुए थे। जनता की तो श्रपार भीड थी ही।

ग्रन्थ समर्पण

श्राचार्य श्री को उसी समारोह मे डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा 'श्राचार्य श्री तुलसी श्रभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित किया जाना था। श्रतः मगलाचरण, स्वागतभाषण श्रादि कार्य हो जाने के पश्चात् श्रभिनन्दन ग्रन्थ के सपादक मडल के श्रध्यक्ष जननेता जयप्रकाश बाबू ने श्राचार्य श्री का श्रभिनन्दन करते हुए ग्रन्थ-समर्पण के लिए उपराष्ट्रपति को निवेदन किया। उन्होने कहा—"श्राज हम सब श्राचार्य श्री के धवल-समारोह मे सम्मिलित हुए है। इस श्रवसर पर श्राचार्य श्री को मानने वालो मे मैं भी श्रपने श्रापको मानता हूँ। मैंने श्रपना एक ही मत स्थिर किया है श्रौर वह है मानव-धर्म। मुझे जहाँ-जहाँ मानवता के दर्शन हुए है मैं वहाँ झुका हूँ। श्राचार्य श्री मे भी मैंने मानवता का साक्षात् रूप पाया है.... मैं सम्पादक-मण्डल की श्रोर से श्राचार्य श्री का धवल श्रभिनन्दन करता हूँ श्रौर माननीय उपराष्ट्रपतिजी से निवेदन करता हूँ कि श्रब वे श्रभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करें।"[1]

उपराष्ट्रपति ने ग्रन्थ भेंट करने से पूर्व श्रपने भाषण मे कहा—"राजनीतिक नेताश्रो श्रौर राजे-रजवाडो को श्रभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने की पुरानी परम्परा रही है, पर किसी राष्ट्र-सत का श्रभिनन्दन यह एक नया सूत्रपात है।.. मैं श्रपने श्रापको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि राष्ट्रसत

१—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

का अभिनन्दन मैं कर रहा हूँ……।"[1]

अपने भाषण की सपन्नता के पश्चात् उपराष्ट्रपति ने मच पर खडे होकर बडे ही आदर और विनम्रभावो के साथ आचार्य श्री के कर-कमलो मे अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया। मच पर बैठे सभी आगन्तुक उस समय आदर व भक्ति व्यक्त करने के लिए खडे हो गए थे। सामने समुद्र की तरह लहराता हुआ जन-समूह उस दृश्य की रमणीयता मे अपने आपको विस्मृत किये हुए तल्लीनता से देख रहा था। उस समर्पण के क्षण को हर कोई की आँखें पूर्णत. आत्मसात कर लेने को आतुर थीं। वस्तुत: वह एक अभूतपूर्व दृश्य था।

अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभिनन्दन-ग्रन्थ की सामग्री आचार्य श्री की गरिमा के अनुरूप है। वह विशाल ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठो का है। सामग्री-चयन मे यह ध्यान रखा गया है कि वह एक प्रशस्तिग्रन्थ ही न रहे, अपितु दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वाङ्गीण शास्त्र वन जाए। इसके चारो अध्याय अपनी पृथक्-पृथक् मौलिकता लिये हुए हैं।

प्रथम अध्याय श्रद्धांजलि और संस्मरण प्रधान है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रभाव-क्षेत्र होता है और उसमे उसे यथा-समय श्रद्धा भी प्राप्त होती है, परन्तु सवका प्रभाव-क्षेत्र समान नही होता। किसी का प्रभाव-क्षेत्र केवल अपना घर ही होता है तो किसी का सपूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व। अध्यात्म और नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्य श्री का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय वन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्तियो ने उनके प्रति जो उद्गार व्यक्त किए हैं वे उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

द्वितीय अध्याय मे उनका जीवन-वृत्त है। हर एक महापुरुप का

२—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है फिर आचार्य श्री ने तो अपने समग्र जीवन को अहिंसा और सत्य के लिए समर्पित किया है। सर्व साधारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय मे अणुव्रतो की भावना पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न लेखको ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओ से समाज की इस आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। यह अध्याय एक प्रकार से सक्षिप्त नैतिक-दर्शन कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय का विषय है दर्शन और परम्परा। इस अध्याय के शोध-पूर्ण लेख, बडी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस अध्याय के अधिकाश लेख जैनदर्शन से सबद्ध हैं, फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन के लिए भारी सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

सम्पादक मंडल

ग्रथ के प्रबध सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रंथ का सकलन, सपादन और प्रकाशन केवल छह महीने मे ही सम्पन्न हो गया। यह आशातीत ही कहा जा सकता है। सम्पादक-मडल का कार्य कौशल इस त्वरा मे सभवत मुख्य कारण रहा हो। सम्पादक मडल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे-

श्री जयप्रकाश नारायण	मुनि श्री नगराजजी
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल	श्री मैथलीशरण गुप्त
श्री के० एम० मुशी	श्री एन० के० सिद्धान्त
श्री हरिभाऊ उपाध्याय	श्री जैनेन्द्र कुमार
श्री मुकुट विहारी वर्मा	श्री जवरमल भडारी
श्री अक्षयकुमार जैन	श्री मोहनलाल कठौतिया

इनमे श्री जयप्रकाश नारायण अध्यक्ष थे, अक्षयकुमारजी प्रबध सम्पादक और मोहनलालजी व्यवस्थापक। मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम तो इसके आद्योपान्त तक समान रूप से था ही। अध्यक्ष श्री जयप्रकाश

नारायण ने स्वय इस बात को इन शब्दों मे व्यक्त किया है—"ग्रन्थ-सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक-मडल मे अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य इनकी देख-रेख मे होना है।"[1]

आचार्य श्री का उत्तर

आचार्य श्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नही माना; फिर भी जनता ने उन्ही का अभिनन्दन किया था अत उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नही है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसी का अभिनन्दन है मैंने दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नही किया तो उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मे अपने विकास व उत्थान के लिए चला, वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ ···अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होनी है, वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्म-वान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सपादन मे सहायक होती है—भगवान महावीर की इस वाणी मे जो प्रेरक सदेश है, उससे प्रेरणा लूं। प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूं; यही संकल्प मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।"[2]

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्य काल के पच्चीस वर्षो के अनुभवो के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए, उनको उन्होंने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए इन शब्दो मे व्यक्त किया—"मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के २५ वर्ष पूर्ण हुए

१ आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पादकीय
२. जैनभारती, १८ मार्च १९६२

हैं। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए उन्हें मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ। उनमें से कुछ ये हैं —

१. अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

२, साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद ये दोनों ही भ्रान्त हैं।

३ नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनों की सहाव-स्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

४. धर्म-संस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता है।

५ भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उनकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

६. धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह में निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।

७ वर्तमान जीवन में मोह की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है।- केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता।

८ आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर भी सह-अस्तित्व का सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकता है। जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएँ निर्विकार हो सकती हैं। अभेद बुद्धि को विक-सित किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरों को नहीं अपना सकता।

९. धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।[1]

साधु संस्थाओं से

उन्होंने उस अवसर पर आध्यात्मिक-विकास के लिए वर्तमान की साधु संस्थाओं को भी कुछ बातें सुझाव के रूप में कही हैं। 'वे इस

१. जैन भारती १८ मार्च १९६२

प्रकार हैं—

१. राजनीति मे हस्तक्षेप न करें।

२. परिग्रह से अलिप्त रहे।

३. जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद, आदि झमेलो मे न फँसें। शान्ति, समन्वय और विश्व की एकता का प्रसार करें।

४. नवीनता या प्राचीनता का मोह न करें, सदा समीचीनता का समादर करें।

५. चारित्रिक-विकास को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाएं।

६ सुशिक्षित, सुव्यवस्थित और अनुशासित हो।[1]

गौरव पूर्णअस्तित्व के लिए

आज के भौतिक और बौद्धिक युग मे साधु संस्था को अपने गौरव पूर्ण अस्तित्व के लिए जिन प्रमुख बातो की आवश्यकता है उनको उन्होंने इस प्रकार गिनाया था;—

१ लक्ष्य के प्रति दृढ आस्थावान्।

२. अपने नेता, सहधार्मिको व स्वयभूत सिद्धान्तों के प्रति असंदिग्ध होना।

३. बाह्य उपकरणो व आवश्यकताओ को अत्यल्प रखना।

४. अनुशासन, विनय और वात्सल्य का समुचित समादर करना।

५ पद-लोलुपता व निर्वाचन से मुक्त रहना।

६. श्रम-परायण होना और आरामपरकता से बचना।

७ लोक-सग्रह की अपेक्षा लोक-कल्याण पर अधिक ध्यान देना।[2]

साधुवाद और आह्वान

आचार्य श्री ने उस अवसर पर तेरापथ के साधु-साध्वियों को उनकी

---

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

प्रगति पर साधुवाद देते हुए आह्वान किया था, वह इस प्रकार है—"मैंने इन २५ वर्षो मे जिस साधु-संस्था का नेतृत्व किया है, उसका अतीत उत्तम रहा है, वर्तमान गौरवपूर्ण है और भविष्य उज्ज्वल दिखता है, क्योंकि उसमें अनुशासन है, व्यवस्था है, विनय और वात्सल्य की भावना है, श्रद्धा और बुद्धिवाद का समन्वय है तथा लक्ष्य के प्रति एक अडिग विश्वास।

मैं अपने साधु-साध्वियों को प्राप्त विशेषताओं के लिए साधुवाद देता हूं और अप्राप्त विशेषताओं की प्राप्ति के लिए उनका आह्वान करता हूं।[1]

आभार प्रदर्शन

सेवाभावी मुनिश्री चंपालालजी के प्रति आचार्यश्री ने इस अवसर पर जो आभार प्रदर्शित किया था, वह इस प्रकार है—

"सेवाभावी मुनि श्री चम्पालालजी! आपसे मुझे बहुत सत्प्रेरणाएँ मिलीं। मेरे विकास मे आपका बहुत योग रहा है। इससे मैं प्रसन्न हूं। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं अत्यन्त कृतज्ञ भाव से आपके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।"

सम्मान

मुनिश्री चम्पालालजी (मीठिया) और लाडांजी का सम्मान करते हुए उन्होंने ये उद्‌गार व्यक्त किए थे—

"विनयनिष्ठ मुनि चम्पालालजी (मीठिया) आपकी सहज विनम्रता मे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं आपका विनय-निष्ठ के रूप मे सम्मान करता हूँ।

"विनयनिष्ठा सुशिष्या लाडांजी! तुम्हारी सहज विनम्रता मे मैं प्रसन्न हूं। धवल समारोह के अवसर पर मैं तुम्हारा विनय-निष्ठा के रूप मे सम्मान करता हूं।"

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६२

परामर्शक नियुक्त

मुनि बुद्धमल्ल तथा मुनिश्री नगराजजी को आचार्य श्री ने उस अवसर पर क्रमश अपने साहित्य विभाग और अणुव्रत विभाग का परामर्शक नियुक्त किया। नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है—

"सुशिष्य मुनि बुद्धमल्ल जी ! तुमने साहित्य के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि मे जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हे साहित्य-विभाग-परामर्शक के रूप मे नियुक्त करता हूँ।

"सुशिष्य मुनि नगराजजी ! तुमने आन्दोलन के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि करने मे जो प्रशसनीय योग दिया है, इससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हे अणुव्रत-विभाग-परामर्शक के रूप मे नियुक्त और अग्रगण्य की लागत के रूप गाथाओ से मुक्त करता हूँ।"

आशीर्वाद

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', मुनि दुलहराजजी और साध्वी कस्तुराँ जी को आचार्य श्री ने आशीर्वाद प्रदान किया। वह इस प्रकार है—

"सुशिष्य मुनि महेन्द्र जी ! तुमने अणुव्रत प्रसार और साहित्य की दिशा मे जो प्रयत्न किया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।"

"सुशिष्य मुनि दुलहराज जी ! तुमने साहित्य के क्षेत्र मे जो प्रगति की है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। दक्षिण प्रान्तीय एव अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओ के साहित्य मे विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।"

"सुशिष्या कस्तुरा जी! तुमने सुदूर प्रांत दक्षिण मे अणुव्रत-आन्दोलन की प्रगति के लिए जो यत्न किया, उससे मैं प्रसन्न हूँ। कार्य-क्षमता की

प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं।"

वदनांजी के प्रति

मातृवरा वदनाजी के प्रति आचार्य श्री ने जो उद्गार व्यक्त किये थे वे इस प्रकार हैं:—

"ऋजुमना साध्वीवदा वदना जी! आपसे मुझे मातृवात्सल्य के साथ-साथ जो पवित्र सस्कार मिले, वे मेरे जीवन विकास के महान् हेतु बने। मैंने जो सत्प्रयत्न किया उसमे आपकी तपःपूत भावनाएं सदा मेरे साथ रही हैं।

स्मरण

उस अवसर पर उन्होंने विभिन्न गुणो के आधार पर अनेक व्यक्तियों का स्मरण किया था। वह इस प्रकार है:—

साध्वी श्री हुलासाजी को विनयनिष्ठा के रूप मे, पंडित रघुनन्दनजी शर्मा को शासन सेवी एवं विशिष्ट अणुव्रती के रूप में, प्रतापमलजी मेहता को शासनसेवी के रूप मे एव कल्याणमलजी वरड़िया को अणुव्रती एवं त्यागवृत्तिक के रूप मे स्मरण किया गया था।

विविध गोष्ठियां

धवल-समारोह के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियो के आयोजन भी रखे गये थे। श्रीमन्नारायणजी की अध्यक्षता मे अणुव्रत-विचार-परिषद्, डॉ० हरवशराय 'बच्चन' की अध्यक्षता मे कवि सम्मेलन, इसी प्रकार दर्शन परिषद्, साहित्य परिषद् एवं अणुव्रत अधिवेशन आदि द्वारा समागत जनता को विशेष रूप से अध्यात्म का पोषण मिलता रहा।

विशेषांक समर्पण

धवल-समारोह के द्वितीय चरण के अवसर पर मुनिजनो द्वारा हस्त-

लिखित पत्रिका 'जयज्योति' का एक अभिनन्दन विशेषांक भी निकाला गया था। उसमे विभिन्न लेखकों द्वारा संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन और अर्वाचीन पच्चीस भाषाओ मे श्रद्धांजलियाँ तथा लेख लिखे गये थे। सम्पादक-मंडल की ओर से मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल' ने उसे आचार्यश्री के चरणो मे समर्पित किया था।

साहित्य सम्पादन

धवल-समारोह के अवसर पर आचार्यश्री की कृतियो का सम्यक् सम्पादन करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार श्रमण सागर और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस कार्य को सम्पन्न करने में लगे। अनेक ग्रन्थ उनकी सम्पादकता मे जनता के सामने आये।

साहित्य की भेंट

आचार्यश्री तथा मुनिजनों द्वारा नवनिर्मित साहित्य मे से अनेक ग्रंथों को भारत के सुप्रसिद्ध प्रकाशन सस्थान 'आत्माराम एण्ड सन्स' ने प्रकाशित किया। धवल-समारोह के दोनो ही चरणों के अवसर पर सस्थान के मालिक श्री रामलाल पुरी ने स्वयं आकर उन प्रकाशित ग्रंथों को अपनी संस्था की ओर से आचार्यश्री के चरणो मे भेंट किया। उनमे आचार्यश्री की रचनाओ के अतिरिक्त विभिन्न साधुओ की रचनाएँ भी थीं।

प्रकाशन की दृष्टि से यह भेंट आत्माराम एण्ड संस की अवश्य थी पर लेखन की दृष्टि से तो यह विभिन्न लेखकों की भेंट थी।

द्वितीय परिशिष्ट

आचार्य श्री की जन्मकुण्डली

विक्रम संवत् १९७१ मंगलवार कार्तिक शुक्ला द्वितीया इष्ट—५२/५१ लग्न सिंह ४/२४

जन्म चक्र

चलित

नवांश
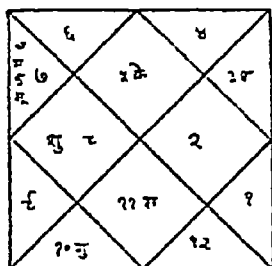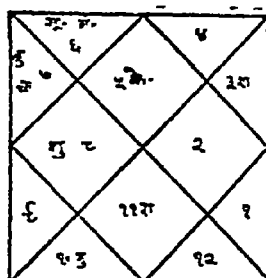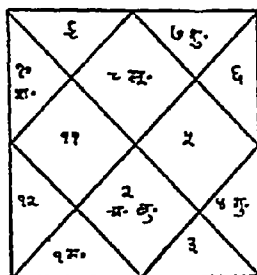
आचार्यश्री के चातुर्मासों की सूची

१९९३ गंगापुर
१९९४ बीकानेर
१९९५ सरदारशहर
१९९६ बीदासर
१९९७ लाडणू
१९९८ राजलदेसर
१९९९ चूरू
२००० गंगाशहर
२००१ सुजानगढ़
२००२ श्री डूंगरगढ़
२००३ राजगढ
२००४ रतनगढ
२००५ छापर
२००६ जयपुर
२००७ हांसी
२००८ दिल्ली
२००९ सरदारशहर
२०१० जोधपुर
२०११ बम्बई
२०१२ उज्जैन
२०१३ सरदारशहर
२०१४ सुजानगढ़
२०१५ कानपुर
२०१६ कलकत्ता
२०१७ राजनगर
२०१८ बीदासर
२०१९ उदयपुर

आचार्यश्री के मर्यादा-महोत्सवों की सूची

१९९३ ब्यावर
१९९४ गंगाशहर
१९९५ रतनगढ
१९९६ सरदारशहर
१९९७ लाडणू
१९९८ सरदारशहर
१९९९ श्रीडूंगरगढ़
२००० गंगाशहर
२००१ सुजानगढ
२००२ सरदारशहर
२००३ चूरू
२००४ बीदासर
२००५ राजलदेसर
२००६ जयपुर
२००७ भिवानी
२००८ सरदारशहर
२००९ सरदारशहर
२०१० राणावास स्टेशन

२०११ बम्बई
२०१२ भीलवाडा
२०१३ सरदारशहर
२०१४ लाडणू
२०१५ सैंथिया
२०१६ हांसी
२०१७ आमेट
२०१८ भीनासर

तृतीय परिशिष्ट

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

पृ० सं०

अग्नि-परीक्षा १८४, १८६, १८७, १८८

अणुव्रत-आन्दोलन ६८, १०६

अणुव्रत-जीवन-दर्शन ६८

आचाराङ्ग १३८

आचार्य तुलसी ५२

आनन्द बाजार पत्रिका ६६

आषाढ़भूति १७६, १८०, १८१

कालू उपदेश-वाटिका १६६, १७५, १७८

कालू यशोविलास ७६, १६६, १७०, १७१, १७२, १७३

क्वासि २६१

चतुर्वर्ग चिन्तामणि ११३

जनपद विहार १६३

जैन भारती (पत्र) २४, २५, ३३, ३४, ३६, ५८, १०८, १०६, १४०, १४१, १६४, १६६, १६७, १६०, २१३, २४५, २६१

पृ० सं०

टाईम (पत्र) ६७

तत्त्व चर्चा १५६, १६१

दशवैकालिक ३६

दी माइंड ऑफ मि० नेहरू ८६

नव निर्माण की पुकार ६८, ६६ १००, १०१, १२८, १३०, १४८, १५०, १५१

नवभारत टाइम्स (पत्र) २६०

नैतिक संजीवन २१५

प्रबुद्ध-जीवन (पत्र) ४५, ४६

भरत मुक्ति १८२, १८३, १८४

माणक महिमा १७३, १७४, १७५

मेघदूत १८१

वार्तालाप-विवरण १४६, १५३, १५५, १५६

विशेष-विवरण २५३, २५४

हरिजन सेवक (पत्र) ६०, ६६

हिन्दुस्तान टाइम्स (पत्र) ६५

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (पत्र) ६६

ज्ञानोदय (पत्र) १६१

व्यक्तियों के नाम

	पृ० सं०
अचलसिंहजी	४३
अमरचन्दजी महाराज	४३
अमृतलाल यादव	२२८
अशोक मेहता	१५०, १५१
आर० के० करजिया	८६
आषाढभूति	१७९, १८०, १८१
इन्द्रचन्दजी	५
ईसा (यीशु)	४६, १६३, १६६, १६७, २३९
उ० न० ढेबर	५०, ९३, १३१
ऋषभनाथ (भगवान)	१८२
ए० के० गोपालन	९३
एन० सी० चटर्जी	१०६
एलिजाबेथ ब्रूनर	२१८, २२०
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	१९१
कबीर	२६१
कमलाकर भट्ट	११४
कस्तूराजी (साध्वी)	११०
काका कालेलकर	४९, ९९
कालीदास	१८१,
कालूगणी	८, ९, १२, १३, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २४, २७, २८, २९, ३०, ३२, ३७, ३८, ६१, ६७, ६८, ७२, ७३, ७५, ८०, ८३, १२९, १६९
किशोरलाल मशरूवाला	५०, ९०, ९६
कृतान्तमुख	१८६, १८७
के० जी० रामाराव	१५६, १५७, १५८, १५९
गणेशप्रसादजी वर्णी	४४
गणेशमलजी (मुनि)	११०
गाधीजी (महात्मा गाधी)	५३, ७७, ७८, १०१, १४४, १४८, १५४, १९०, २११, २१२, २६१
गुलजारीलाल नदा	१४९, १५०
गुलाबचन्दजी (मुनि)	६८
गोपीनाथ 'अमन'	२४३
गोविन्द वल्लभ पन्त	७०
गोविन्दसिंह	२३९
घनश्यामदासजी	२५, ६१
चपालालजी (सेवाभावी मुनि)	७, ९, २५, ७२
चपालालजी (मुनि)	७०
चादमलजी सेठिया	२३२
चौथमलजी (मुनि)	१२, २५, २६, ६१
छोगाजी (साध्वी)	३०
छाटा	२५७
जयप्रकाशनारायण	३६, ९४, २२६

पृ० सं०

जयाचार्य (जीतमलजी म०) २६, ६०, ६७, १६६
जवाहरलाल नेहरू ६६,६८, १०७, ११५, ११७, १२६, १२८, १३०, १४८, १४६, १५०
जशकरणजी (मुनि) ११०
जुगलकिशोर बिडला २२१
जूलियस सीजर १३०
जे० आर० वर्टन १६३, १६४
जे० एस० विलियम्स ४६
जे० बी० कृपलानी ६३, ६६, १४४, १४५
जैनेन्द्रकुमारजी ५२, ६६, १४४, २६०
झूमरमलजी खटेड़ ५६
डब्ल्यू० डी० वेल्स १६३
डनेल्ड कैंप १६६ १६७
डालगणी २६, ६१
तुकाराम (समर्थ) २६१
तिलक (लोकमान्य)
तुलसी (आचार्य तुलसी) १, ५, ८, ६, १२, १३, १४, १५, १६, २६, ३३, ५२, ६१, ७३, ७५, ८४, ६५, ६६, ६७, १०८, १२२, १२७, १४४, १६१, २२०, २५५, २६१

पृ० सं०

तुलसीदास (तुलसी) ५, २६१
त्रिवेदी ५४
दलीग १४०, १४१
दूलीचंदजी (मुनि) ३०
दौलतरामजी २५५
धनराजजी (मुनि) ६६
धर्मकीर्ति ५८
धर्मचन्दजी (मुनि) ७०
धीरजलाल टोकरसी शाह ६६
नगराजजी (मुनि) ६३, ६५, ६८, ७०, ७३, ७६, ८८, ११०, ११५, १२८, २०६
नथमलजी (मुनि) २०, ४३, ६३, ६५, ६८, ७३, ७५, ७६
नन्द ६६
नन्दकिशोर (राजवैद्य) २१६
निधीशजी २५०
निरजननाथ २२०
नीलकंठ ११३
परमानन्द ४५
पुष्पराजजी (मुनि) ११०
फेलिक्स वेल्यि १६१, १६२
वदनांजी (साध्वी) ५, ६, ८, २४
वनेचन्द भाई ४७
बांकेविहारी भटनागर ५१

पृ० सं०

वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' २६१
वी० एन० दातार १०७
वी० डी० नागर २४६
वी० पी० सिन्हा ३३, ५७
बुद्ध १, १०१, १२४ १३३, २१९
बुधसिंहजी ५
भगीरथ ५५
भरत १८२
भारीमाल (आचार्य) २९
भिक्षु (आचार्य भीखणजी) २९, ३५, ३६, ५७, ५८, ५९, १६६, २३८, २५३, २५४
भीमराजजी (मुनि) २६
मगलदास पकवासा ४९
मगनभाई १३२
मगनमलजी (मुनि) ११०
मगनलालजी (मन्त्री मुनि) ९, २२, २४, ३१, ३८
मघवागणी २९, ६०
महालचन्दजी वोरड १२
महावीर (भगवान) १०१, १३४, १३६, १६६, २००, २०१, २३९
महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' (मुनि) ६७, ६८, ६९, ७०, ११०, १३५

पृ० सं०

माणकगणी २७, २९, १७३, १७५
मुरारजी देसाई १५३, १५४, १५५, २०९
मोतीचन्द हीराचन्द झवेरी ४५
मोहनलालजी खटेड़ ६, ९, १०, ११, १२
मोहनलालजी 'शार्दूल' (मुनि) ६५, ११०
यशपाल (कामरेड) २६०
यशोविजयजी (उपाध्याय) ६९
रघुनन्दनजी शर्मा १५, २५, २६, ६१, ६४, ६८
रघुवीरसिंह त्यागी २४१
रतिलालभाई २२४
रमण महर्षि २६१
रवीन्द्रनाथ ठाकुर २१८
राकेशकुमारजी (मुनि) ६८ ११०
राजकरणजी (मुनि) ७०
राजगोपालाचार्य ९९
राजरूपजी खटेड़ ५, ६
राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति) ६९, ६७, १०५, १०६, ११३, १२६, १३०, १४५, १४६, १५१, २५२
राधाकृष्णन् (उपराष्ट्रपति) ६९,

पृ० नं०

९८, १४६, १४७, १४८,
राम १८४, १८५, १८६, १८७
रामदेव (दक्षिण के एक प्राचीन राजा) ११३
रामदेवजी (देवता) ७
रामनारायण खन्ना २२७
रामनारायण चौधरी २७०
राममनोहर लोहिया १०६
रायचन्द (तेरापंथ के तृतीय आचार्य) २६
रायचन्द (श्रीमद् रायचन्द) ६६, २११
रुघनाथजी १३१
रेमंड एफ० पीयर १६०
ललिताप्रसाद सोनकर १०८, २४७
लक्ष्मण १८६
लक्ष्मीरमण आचार्य १०८
लाडाजी (साध्वी) ८, ९
लूथर इवान्स ९८, १३०
लेनिन १६७
वत्सराजजी (मुनि) ६५
विजय वल्लभ सूरि ४४, ४५
विनोबा (संत विनोबा) ६१, १२२, १२६, १५१, १५२, १५३, २६१
वूडलेंड व्हेलर १६४, १६५, २१८

पृ० नं०

शंकर २४३
शंकराचार्य ५८, २१२
शकडाल ६६
शिवनारायणसिंह १०८
शुभकरणजी दसाणी ६३
शोभालाल १४२
श्रीचन्द 'कमल' (मुनि) ७०
श्रीमन्नारायण १००
सत्यदेव विद्यालंकार १३०
समर्थदान २६१
सीता १८४, १८५, १८६, १८७
सुकुमार सेन ९३
सुगनचन्द १०७
सुचेता कृपलानी १००, १४५
सूरजमलजी चोरड़ २३२
सुरेन्द्रनाथ जैन २४४
सूर २६१
ह्यासनाथ १२९
हमीरमलजी कोठारी ५
हर्बर्ट टिश्नि १५९, १६०
हरमन जैकोबी १२९
हरिभाऊ उपाध्याय २५३, २५४
हरिसिंह (राणा) १३१
हाफमैन १२९
हुक्मसिंह ठाकर ६१
हेमचन्द्राचार्य २१८

पृ० सं०

हेमराजजी (मुनि) २६
हेमाद्रि ११३

पृ० सं०

ज्ञानदेव २६१
ज्ञानेश्वर २११, २१२

गांवों के नाम

अकराबाद २४७
अछनेरा २५२
अजंता १३३, १३४
अजमेर ४४, १३८, २२०, २५३
अयोध्या १८४, १८५
अलवर १२६
अलीगढ २५०
अहमदाबाद ५०, १३१
आगरा ४३, १२६, २२८
आडसर ६५
आबू १३१
ईसरी ४४
उज्जैन १३४
उदयपुर १२२, १३८
एलोरा १३३
कलकत्ता ९३, १२३, १३०, १३७, २०२, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०
काणाना १४१, १४२
कानपुर १३५, १३६, १३७, २४९
काशी १३३
गंगापुर २७, २८, १३४
गंगाशहर ४६
गोड़ता २४५
चूड़ा २३७
चूरू १४३
चोपाटी १३३
छापर ६५, ८८, २०१
जयपुर ३६, ९४, १०५, १२५, १३५, १३८, १४५, २०५, २०७, २१३, २१९, २२६
जलगांव १३४, १६६
जालना १३४
जोधपुर १३८
टिटलागढ़ ११७
डोंडायचा १३४
ढाणी २३४
थराद १३१
दिल्ली ५०, ६६, ७८, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ११०, १११, ११२, ११४, ११५, ११८, १२३, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३८, १४४, १४६, १५१, २१२, २२०, २२६, २४३, २५३, २५४
देलवाड़ा १३१

	पृ० स०
धूलिया	१३४
नवीगंज	२४१
नवलगढ	२२३
नालदा	१३६
न्यूयार्क	९७, १९०
पटना	१३६
पारसनाथ हिल	४४
पावा	१३६
पिलानी	२२१, २४१
पूना	१३३
फतहगढ	२४२
फतहपुर	१४४
वम्वई	४५, ४६, ४९, ५०, ५४, ६९, ९०, १२५, १३२, १५३, १६३, १६४, २०९, २१८
वाव	१२२, १३१
वीकानेर	४६, ४७, ६४, १२३, १३८, २२२
वीदासर	१२, ३०, ६१, ६९, २३४
वेंगलोर	१३४
वोरीवली	१३२
व्यावर	२२०, २३५
भरतपुर	१२६, २४८
भीनासर	४६, ६४, ६८
भुसावल	१३४
मथुरा	१२६
मद्रास	१२५
रतनगढ	१४४
राजगृही	१३४, १३६
राजलदेसर	६८, ८८
राणावास	१३०
रावलिया	१४०, १४२
रूपनगढ	२३९
लखनऊ	१३५
लंदन	१८९
लवोडी	२३१
लाडणूं	५, ६, ८, ९, १२, १२९, २३२, २३४, २४८
वनिता	१८२
वाराणसी	१३५
वैशाली	१३४
व्यूपोइट	१३४
शार्दूलपुर	३०
शाहदा	१३४
शिमला	१२५, १७१
सम्वलपुर	११७
सरदारशहर	८८, १२३, १२५, १२८, १३०, २१९
सरसा	६५, ६९
सिक्कानगर	१३२
सिराजगंज	५, ६, ९

	पृ० स०		पृ० स०
सुजानगढ़	१२, ६३, ६८, २३२	सोन्याणा	२३१
सूरत	१३२	हाथरस	११५
सैंथिया	१३७	हासी	१३८

—: ० :—

सूची-पत्र

साहित्य निकेतन
[नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक साहित्य का विक्रय प्रतिष्ठान]
४०९३, नयाबाजार, दिल्ली

हमारे यहाँ प्राप्य साहित्य

अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी

१. अग्नि-परीक्षा	६.५०
२. भरत-मुक्ति	६.५०
* ३. आषाढ़भूति	२.५०
४. श्रीकालू उपदेश-वाटिका	१२.५०
५. श्रद्धेय के प्रति	२.२५
६. नैतिक सजीवन भाग—१	२ ००

मुनिश्री धनराजजी [सरसा]

१ लोकप्रकाश	१.२५

मुनिश्री चन्दनमलजी

१ अन्तर्ध्वनि	० ७५

मुनिश्री नथमलजी [टमकोर]

१. आचार्य श्री तुलसी : जीवन और दर्शन	५ ००

मुनिश्री दुलीचन्दजी

१. तुलसीवाणी	१.५०

मुनिश्री धनराजजी [लाडनूं]

१. भाव भास्कर काव्यम्	२.००

मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण'

१. कुछ कलियाँ कुछ फूल	२.५०

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

१. पथ के गीत	२.५०
२. अँगड़ाई	१.५०

साहित्य परामर्शक मुनिश्री वुद्धमल्लजी

*‡ १. मन्थन	२ ००
-२. आवर्त्त	३.००
*† ३ उठो ! जागो !!	१.००
४. उत्तिष्ठत ! जागृत !!	१.००
*† ५. अणुव्रत विचार-दर्शन	०.५०
६. आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन	३.५०
७. मानवता का मार्ग—अणुव्रत-आन्दोलन	०.०६
८. उस पार	०.७५
९. श्रमण संस्कृति के अंचल में	३.००

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

१. अंक स्मृति के प्रकार	१.००
२. जनपद विहार भाग—२	प्रेस में
३. अणुव्रत की ओर भाग—१	२ ००
४. अणुव्रत की ओर भाग—२	२ ००
५. जैन कहानियां [सचित्र] भाग १	१ ५०
६. ,, [,,] ,, २	१.५०
७. ,, [,,] ,, ३	१ ५०
८. ,, [,,] ,, ४	१.५०
९. ,, [,,] ,, ५	१ ५०
† १०. ,, ,,] ,, ६	१.५०
११. ,, [,,] ,, ७	१.५०
१२; ,, [,,] ,, ८	१.५०
१३. ,, [,,] ,, ९	१.५०
१४. ,, [,,] ,, १०	१.५०
१५. एकाह्निक पचशती	०.३७

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी

*†	१. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान	४.००
	२. अहिंसा विवेक	७.००
	३ अहिंसा-पर्यवेक्षण	३.००
*†	४. अहिंसा के अंचल मे	१.२५
*†	५. अणुव्रत जीवन-दर्शन	२.००
*†	६. अणुव्रत विचार	०.७५
	७. अणुव्रत दिग्दर्शन	०.१५
*†	८. प्रेरणा-दीप	०.५०
*†	९. अणु से पूर्ण की ओर	०.७५
	१०. आचार्य श्री तुलसी : एक अध्ययन	०.५०
	११. अणुव्रत-क्रान्ति के बढते चरण	०.१५
	१२. अणुव्रत-आन्दोलन और विद्यार्थी वर्ग	०.०६
	१३. अणुव्रत दृष्टि	२.००
	१४. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी	१.२५
	१५. तेरापंथ दिग्दर्शन	०.४०
*†	१६. नवीन समाज-व्यवस्था मे दान और दया	०.२५

मुनिश्री सुखलालजी

१. प्रश्न और समाधान	१.२५
२. जन-जन के बीच	१.२५

मुनिश्री मानमलजी

१ उषा गीत	१.५०

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय'

१. विश्वप्रहेलिका	प्रेस में

श्री अनन्त मिश्र

१. विश्व-शान्ति और अणुव्रत	१.००

श्री मतवाला मंगल

१. तुलसी युग	१.२५

अंग्रेजी साहित्य

MUNISHRI BUDDHAMALLJI

1. Terapanth १.००

MUNISHRI NAGRAJ JI

1. Jain Philosophy and Modern Science. २.७५
2. The Anuvrat Ideology. ३.००
3. Light of Inspiration. १.२५
4. Pity and Charity in the new Patern of Society .४०
5 Pen Sketch of Acharya Shri Tulsi. ०.५०
6 The Strides of the Anuvrat Movement. ०.१३
7. Glimpses of Terapanth. ०.६०

MUNI SHRI MAHANDRA KUMARJI B. Sc.

1. Light of India २.००

* चिह्नित पुस्तकों को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने अहिन्दी भाषी प्रान्तों के लिए उपयोगी मानते हुए विद्यालयों व पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत किया है।

† चिह्नित पुस्तकें उत्तर-प्रदेश सरकार, दिल्ली प्रशासन व दिल्ली नगर निगम ने खरीद कर विद्यालयों व पुस्तकालयों को वितरित की हैं।

‡ राजस्थान सरकार ने इण्टर कॉलेजों के पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत किया है।

इसके अतिरिक्त अणुव्रत और विद्यार्थी, अनुपूर्वी आदि भी उपलब्ध हैं।

हमारे लोकप्रिय प्रकाशन

साहित्य परामर्शक मुनिश्री बुद्धमलजी

१. आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन	३.५०

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी

१. अहिंसा-पर्यवेक्षण	३.००
२. आचार्य श्री तुलसी : एक अध्ययन	०.५०
३. नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया	०.२५
४. Pen Sketch of Acharya Shri Tulsi	०.५०

समाजभूषण श्री छोगमलजी चोपड़ा

१. श्रावक व्रत धारण विधि	१.५०

• • •

आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

पृ० सं० ७८८ मूल्य ४०.००

इस ग्रन्थ के सम्पादक मण्डल मे मुनि श्री नगराजजी, श्री जयप्रकाश नारायण, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, पजाब के राज्यपाल श्री गाडगिल, श्री के० एम० मुन्शी आदि देश के ग्यारह वरिष्ठ मनीषी हैं। ग्रन्थ चार अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे सभी प्रान्तो के माने हुए साहित्यकारो व नेताओ ने अपने अपने सस्मरणो द्वारा श्रद्धा-सुमन अर्पित किए है और साथ ही गणमान्य समालोचकों द्वारा आचार्यजी की कृतियो पर लिखे गये प्रबन्ध भी हैं। इन प्रबन्धो से आचार्यजी की सहज कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। दूसरे अध्याय मे मुनिश्री बुद्धमलजी द्वारा साहित्यिक शैली मे लिखी गई आचार्यजी की जीवनी है। तीसरा और चौथा अध्याय नैतिक, दार्शनिक और पारम्परिक है। इसमे नैतिक-दर्शन की व्यावहारिक रेखाएँ खीची गई हैं और जैन दर्शन तथा परम्परा की गहराई मे विवेचना की गई है।

ग्रन्थ अपने आप मे अनेकानेक विशेषताएँ लिये हुए है। ग्रन्थ का सम्पादक मण्डल जितना उच्चस्तरीय है, ग्रन्थ की साज-सज्जा व उसकी सामग्री भी उसके अनुरूप ही है। सम्पादन बहुत ही कुशल हाथो से हुआ है। श्री जयप्रकाश नारायण ने सम्पादकीय मे ग्रन्थ-सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को दिया है। यह ग्रन्थ आचार्यजी की महानता के अनुरूप तो है ही, साथ ही भारतीय चिन्तन और आदर्शों को भी बहुत ऊँची भूमिका प्रदान करने वाला है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे बीसों विदेशी विद्वानो व भारत के अलग-अलग धर्माचार्यों के भी लेख व श्रद्धाजलिया हैं। इसमे ईसाई पादरी, शंकराचार्य, रमण आश्रम के अध्यक्ष आदि प्रमुख है।

ता० १ जुलाई १९६२ —हिन्दुस्तान